एन. एल. आई. रिसर्च स्टडीज़ सीरीज़

संख्या : 084/2008

भोजपुरी प्रवासी श्रमिकों की संस्कृति और भिखारी ठाकुर का साहित्य

धनंजय सिंह

वी.वी. गिरि राष्ट्रीय श्रम संस्थान

भोजपुरी प्रवासी श्रमिकों की संस्कृति और भिखारी ठाकुर का साहित्य

धनंजय सिंह

वी.वी. गिरि राष्ट्रीय श्रम संस्थान
सेक्टर-24, नोएडा-201301
उत्तर प्रदेश

वी.वी. गिरि राष्ट्रीय श्रम संस्थान

समेकित श्रम इतिहास अनुसंधान कार्यक्रम

यह वर्किंग पेपर श्रम इतिहास लेखन श्रृंखला एक एक कड़ी है। श्रम इतिहास लेखन का यह कार्य वी.वी. गिरि राष्ट्रीय श्रम संस्थान के समेकित श्रम इतिहास अनुसंधान कार्यक्रम के तहत किया जा रहा है। यह कार्यक्रम एसोशिएशन आफॅ इंडियन लेबर हिस्टोरियन के सहयोग से जुलाई, 1998 में आरंभ किया गया था जिसका उद्देश्य श्रम इतिहास के उपेक्षित क्षेत्र पर अनुसंधान आरंभ करना, उसे समन्वित करना और पुनर्जीवित करना है।

इस कार्यक्रम के तीन चरण हैं, भारतीय श्रम पर अभिलेखागार विकसित करना इस कार्यक्रम के कोर में है। यह अभिलेखागार देश में अपनी किस्म का अनूठा अभिलेखागार है। अभिलेखागार में श्रमिक आंदोलन से संबंधित श्रमिक संगठनों, राज्य और व्यापार घरानों द्वारा सृजित दस्तावेजों का सिलसिलेवार संरक्षित किया जाता है। समसामयिक दस्तावेजों और अन्य सामग्रियों जैसे व्यक्तिगत विवरण, श्रम से संबंधित दृश्य सामग्रियां भी अभिलेखागार में संरक्षित की जाती हैं। इस कार्यक्रम के तहत जितनी भी अनुसंधान परियोजनाएं हाथ में ली जाती हैं उनमें श्रम इतिहास लेखन का घटक मौजूद रहता है। श्रम इतिहास लेखन समेकित श्रम इतिहास अनुसंधान कार्यक्रम का दूसरा घटक है। इस कार्यक्रम के तीसरे में संस्थान अन्य केन्द्रों के साथ सहयोग करके अन्तर्विषयक अनुसंधान करता है तथा उसके परिणामों को सम्मेलनों और विचार गोष्ठियों के माध्यम से प्रचारित और प्रसारित करता है।

भारतीय श्रम अभिलेखागार तथा समेकित श्रम इतिहास अनुसंधान कार्यक्रम के बारे में विस्तृत जानकारी के लिए कृपया निम्नलिखित पते पर लिखें:-

समेकित श्रम इतिहास अनुसंधान कार्यक्रम
वी.वी. गिरि राष्ट्रीय श्रम संस्थान
सेक्टर-24, नोएडा-201301
दूरभाष: 011-8-4532968
फैक्स: 011-4535174
ईमेल: shram@ndf.vsnl.net.in

आमुख

लोकसंस्कृतियों में श्रमिक समुदाय की जीवंत तस्वीरें मौजूद हैं-चाहे प्रवासी श्रमिक समुदाय हो या ग्रामीण श्रमिक समुदाय। श्रमिक समुदाय के जीवन के विभिन्न बिन्दुओं को लोकसंस्कृति अपने आँचल में बटोरती जाती है। हिन्दुस्तान की भोजपुरी लोकसंस्कृति ने श्रमिक समुदाय से जुड़े विभिन्न पक्षों विशेषत: प्रवसन की परंपरा को जितनी मात्रा में दर्ज किया है, उतना शायद ही किसी अन्य लोकसंस्कृति ने किया हो। इस दृष्टि से विशेष संस्कृति के बहाने श्रमिक मौखिक इतिहास को एक नया आयाम मिल सकता है। वी.वी. गिरि राष्ट्रीय श्रम संस्थान अपने अन्य सरोकारों के साथ-साथ श्रमिक मौखिक इतिहास लेखन के लिए भी प्रतिबद्ध है। इसी दिशा में किया गया प्रयास है यह अध्ययन- 'भोजपुरी प्रवासी श्रमिकों की संस्कृति और भिखारी ठाकुर का साहित्य'। इस अध्ययन से पता चलता है कि लोकसंस्कृति मजदूर-वर्ग के इतिहास लेखन के लिए कितना सशक्त माध्यम हो सकती है, यानि वह मजदूर-वर्ग की मानसिक व सामाजिक बनावट तथा चेतना को समझने में कितनी उपयोगी होती है और किसी तद्युगीन प्रतिनिधि रचनाकार की कृति उस वर्ग-विशेष समुदाय के समग्र जीवन को समझने के लिए सामाजिक व सांस्कृतिक इतिहास के लिए कैसे वस्तुगत स्रोत बन सकती है।

'भोजपुरी के शेक्सपीयर' भिखारी ठाकुर के साहित्य का उपयोग इस शोध कर्त्ता ने अपने पत्र में औपनिवेशिक दौर में उस क्षेत्र के प्रवासी श्रमिकों की संस्कृति की पड़ताल हेतु किया है, जिसे पांच भागों मे विभक्त किया गया है-एक, प्रवसन की परंपरा; दूसरा, कलकतिया, भिखारी ठाकुर और बिदेसिया; तीसरा, भिखारी ठाकुर और रुचि का परिष्कार; चौथा, प्रवासी उढ़रियाँ और पाँचवा, लोकसंस्कृति में 'पूरूब'। भोजपुरी क्षेत्र से श्रमिक समुदाय के प्रवास की परंपरा की पड़ताल के लिए लोकसंस्कृति में छुपी हुई ऐतिहासकि घटनाओं की संकेतों का उपयोग करने की पद्धति इस शोध-अध्ययन की ताकत है। यह पद्धति लगभग पूरे शोध-अध्ययन में इस्तेमाल की गई।

प्रस्तुत अध्ययन में जिन-जिन मुद्दों को स्पर्श किया गया है, वे सभी अपने अपने चरित्र में ऐतिहासिक महत्त्व के साथ प्रासंगिक भी हैं। उदाहरण के लिए, भोजपुरी क्षेत्र से पलायन की प्रवृति। पलायन यानि प्रवसन स्थायी बना हुआ है। यह सच है कि प्रवसन की पीड़ा को वही रचनाकार साकार रुप दे पाता है, जो भुक्त-भोगी होता है। इस दृष्टि से, इस अध्ययन में भिखारी ठाकुर की अभिव्यक्तियाँ सार्थक एवं उपयोगी है; जिसमें प्रवास में लाइनों या बस्तियों में रहने वाली महिला मजदूरों के प्रति सहानुभूति के साथ व्यवहार किया गया है। वह सहानुभूति न केवल सहानुभूति मात्र है वरन् उनके जीवन की भीतरी परतों तक भी घुसने की कोशिश की गई है। यह कोशिश इस शोध-अध्ययन में प्रवासी उढ़रियों (वे औरतें, जो अपने बच्चों समेत एक पतिनुमा पुरुष के साथ रहती हैं, जो उनकी पत्नियां नही होती हैं।) की पड़ताल के दौरान हुई है।

यह शोध-अध्ययन इस बात की भी जानकारी देता है कि प्रवसन की पीड़ा न केवल डेस्टीनेटिव जगहों पर ही होती है वरन् गाँव में छूट गए अकेले स्त्रियों-पुरुषों (अधिकतर स्त्रियों के लिए) को भी होती है। यही कारण है कि लोकसंस्कृति में उसकी अनुगूँज गूँजती रहती है। इस अध्ययन में स्रोत के रूप में उसी लोकसंस्कृति का उपयोग हुआ है।

पुनश्च; तत्कालीन ज्वलंत मुद्दों को सार्थक दिशा प्रदान करने के निमित्त, जिनका हित-अहित मजदूर समुदाय से जुड़ा हो, उन पर इस तरह के अध्ययन हेतु बहुत काम करने की आवश्यकता है। इस दिशा में यह शोध-अध्ययन एक चिंगारी का काम अवश्य करता है।

के. मनजीत सिंह

(के. मनजीत सिंह)
निदेशक

प्रस्तावना

''किसी स्थान को अपना घर कहने के लिए कितनी पीढ़ियों को वहां रहना पड़ता है?''

(ब्रिज बी. लाल-आधी रात से आगे, पृ0-26)

आज दिल्ली में रहते हुए दस जमा तीन तेरह साल मतलब एक युग से ज्यादा हो गया। फिर भी दिल्ली वाला न बन सका। उपर्युक्त पंक्ति की कीमत (दर्द) अब समझ में आती है। लंबे समय से मजदूर बस्तियों में अपने ही लोगों के बीच रहते हुए हरदम गाँव की बातें सुनते हुए 'गँवारू' ही बना रहा। शायद इसीलिए मन के कोने में गाँव और जिंदा होता गया। ऐसे में अतीत में प्रवासी श्रमिकों की संस्कृति की खोजबीन करना, बहुत कुछ स्वयं को जानने जैसा लगता रहा। किसी इतिहासकार का यह कथन मेरे लिए और महत्वपूर्ण हो उठता है कि अधिकांश इतिहास मुख्य रूप से एक छुपी हुई आत्मकथा है।

इतिहास गवाह है कि हिन्दुस्तान की सभी बोलियों में से भोजपुरी सबसे बड़े भू-भाग एवं सबसे अधिक संख्या में बोली जाती रही है और उसकी यह भी वास्तविकता रही है कि उसने लम्बे समय से प्रवसन की परम्परा बनाई है। पर दुर्भाग्य रहा है कि प्रवसन को लेकर इतिहास में उसे बहुत कम स्थान दिया गया है। भोजपुरी समाज व संस्कृति की लेखन के प्रति सजगता अब धीरे-धीरे दीखने लगी है। पर दु:खद स्थिति यह भी है कि हिन्दी भाषा में उसके प्रति लेखन का नितान्त अभाव माने एकदम शून्य के बराबर है। प्रस्तुत शोध-पत्र इसी शून्यता की स्थिति को तोड़ने का एक प्रतिबद्ध प्रयास है। इस प्रयास में यदि एक तरफ विविध (लिखित व मौखिक) स्रोतों से संबंधित सूचनाओं का एकत्रीकरण किया गया है, वहीं दूसरी तरफ सांस्कृतिक अध्ययन के लिए इतिहास व समाज-शास्त्रीय बोध का व्यावहारिक सहारा लेकर द्वन्द्वात्मक दृष्टि से

देखा गया है ताकि सांस्कृतिक अध्ययन में अतिशय भावुकता से बचा जा सके। इस अध्ययन की महत्ता इस बात में निहित है कि औपनिवेशिक दौर में भोजपुरी प्रवासी मजदूर जिन परेशानियों से अपने दैनिक जीवन में जूझ रहा था, वह जिन विडम्बनाओं व विपदाओं की चपेट में आने को अभिशप्त था। उनके इन अभिशापों को मात्र उनकी अपनी लोक-संस्कृति ही पहचान पा रही थी। दरअसल, उस मजदूर वर्ग की नाभि सभी दृष्टिकोणों से उसकी लोक-संस्कृति से जुड़ी हुई है और यही वजह है कि वह पुनः हर यथासंभव दिशा-निर्देश कर रही थी, जिसके प्रतिनिधि रचनाकार भिखारी ठाकुर थे। इस शोध-पत्र के लिए भिखारी ठाकुर के साहित्य को स्रोत के बतौर आधार बनाया गया है। समग्रतः यह शोध -अध्ययन प्रवासी श्रमिक इतिहास लेखन में मौखिक सांस्कृतिक इतिहास लेखन को एक नया आयाम प्रदान करता है।

भोजपुरी प्रवासी श्रमिकों की संस्कृति के अध्ययन हेतु हमने भिखारी ठाकुर के साहित्य को आधार बनाया है। इसमें मुख्यतः भाषावैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय एवं ऐतिहासिक अध्ययन किया है। इस अध्ययन में फील्डवर्क के जरिये विविध स्रोतों (मौखिक व लिखित) से संग्रहित लोकगीतों, लोककथाओं, लोकनाट्यों, लोकोक्तियों, लोककहावतों इत्यादि की भरपूर मदद ली गई है। आंतरिक प्रवासी श्रम संस्कृति के अध्ययन के लिए लोकसंस्कृति की सहायता इसलिए ली गई है क्योंकि विवेच्य श्रम संस्कृति की मौजदूगी अन्यत्र लगभग शून्य के बराबर है और कहीं उसकी मौजदूगी है भी तो अधिकतर नकारात्मक रूप में। इस नकारात्मक मौजदूगी को भी हमने प्रस्तुत शोध- अध्ययन के लिए परमावश्यक समझते हुए सम्मिलित किया है। इन्हीं विविध स्रोतों के सहारे हमने भिखारी ठाकुर से पूर्व और उनके समकालीन भोजपुरी प्रवासी श्रमिकों के जीवन एवं संस्कृति का बहुआयामी पट बुनने की कोशिश की है। भिखारी युगीन प्रवासी श्रम संस्कृति के वस्तुगत आधार के लिए ऐतिहासिक, सामाजिक, भौगालिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों की पड़ताल हेतु हमने औपनिवेशिक

अभिलेखों, आधिकारिक लेखों, राष्ट्रवादी-सुधारवादी इत्यादि लेखनों की पर्याप्त सहायता ली है। इसके साथ ही श्रम संस्कृति से संबंधित शोध अध्ययनों का भी सहारा लिया है।

प्रस्तुत शोध-पत्र को हमने पाँच भागों में विभक्त करके अध्ययन किया है-

I

प्रवसन की परंपरा

A. अपने त गइले संइया पूरबी रे बनिजिया।[1]

B. पनिया के जहाज से पलटनिया बनि अइह पिया।[2]

C. लागल झुलनिया के धाका, बलमू कलकाता निकल गये।

रेलिया से उतरे, जहजिया प चढ़ले पिया, रंगूनवा गइले ना।[3]

D. रेलिया बैरी ना जहजिया बैरी/ से पइसवा वैरी ना।

संइया के लेके गइल विदेसवा/सेपइसवा बैरी ना।[4]

E. डगरिया जोहत ना, बीतत बाटे आठ पहरिया हो,

×××

पियवा गइलन कलकातावा ए सजनी।[5]

उपर्युक्त गीत-पंक्तियों का प्रवास काल और प्रवास-प्रकृति की दृष्टि से अवलोकन करते ही यह तर्क खारिज हो जाता है कि भोजपुरी समाज भूमि से बंधा या जकड़ा हुआ समाज था या अपना घर छोड़कर अन्जान दुनिया की ओर कभी नहीं जाना चाहता था। उपर्युक्त पंक्तियाँ इतिहास के स्वर में अपना स्वर मिलाकर गवाही दे रही हैं कि सदियों से भोजपुरी कृषक समाज बेहतर अवसरों की खोज में एक जगह से दूसरी-जगह भटकता रहा है। पहले इन गीत-पक्तियों का इतिहास से रिश्ते का खुलासा करे A 'पूरबी बनिजिया' यानी भोजपुरी क्षेत्र से पूरब दिशा में (बंगाल-कलकत्ता, मोरंग इत्यादि) छोटा-मोटा व्यापार करने जाना। औपनिवेशिक दौर में इस क्षेत्र से लोगों का 'पूरबी बनिजिया' जाना हुआ और जो कृषि से लेकर घर-गृहस्थी के लिए आर्थिक सहयोग साबित हुई।[6]

B. अंग्रेजी राज में भोजपुरियों का पलपटन में भर्ती होना एक लोकप्रिय शगल था। तभी तो पत्नी अपने पिया से पानी के जहाज से 'पलटनिया' बनकर लौटते समय बंगाल से सिंदूर मांगती हैं।[7] C. पत्नी की झुलनी का धक्का लगने से प्रियतम कलकत्ता के लिए निकल चला। रेल से उतरा, जहाज पर चढ़ा, रंगून पहुँचा। रंगून, मालाया, श्रीलंका इत्यादि हिन्द महासागरीय द्वीपों की ओर कंगनी प्रथा के द्वारा भी इस क्षेत्र से लोगों का जाना हुआ। यह गीत संभवत: उसी प्रवास प्रक्रिया की सांस्कृतिक देन है जिसमें पति रात-दिन मेहनत करके पत्नी के लिए कलकत्ता से तीन पतिया झुलनी लाने का संकल्प ले रहा होता है। D. पत्नी अपने विवेक का परिचय देते हुए कहती है कि रेल या जहाज उसके बैरी नहीं हैं बल्कि घर में कुछ है ही नहीं ; इसलिए पैसा का अभाव ही बैरी है। गीत की लोकप्रियता और उसकी गंध कूली प्रथा के तहत हुए श्रम प्रवास की ओर संकेतित कर रहे हैं और अंत में E. पति कलकत्ता में अपनी डगर ढूँढ़ रहा है। नवेली पत्नी को बिना बताए चला आया है। इस तरह हम देख सकते हैं कि 'पूरबी बनिजिया,' 'पलटनिया', 'रंगून', 'विदेस' और 'कलकातावा' सभी भोजपुरी क्षेत्र से हुए विविध प्रकार के प्रवास संबंधों को द्योतित करते हैं। यहाँ यह कहना अनावश्यक नहीं होगा कि इतिहास के समानांतर ही संस्कृति अपनी उपस्थिति दर्ज करती चली आ रही है।

परंतु यहाँ इस प्रसंग की ओर उल्लेख करना महत्वपूर्ण जान पड़ता है कि उपर्युक्त इन गीतों के संस्कृति निर्माण की पृष्ठभूमि के लिए भारतीय आर्थिक इतिहास में उल्लेखित 'पुल' और 'पुश' फैक्टर्स जिम्मेदार हैं। पर बात इन दो 'ब्लैक' एवं 'ह्वाइट' जैसी थियोरियों में बंधकर नहीं समा पाती है। भोजपुरी क्षेत्र से प्रवसन के लिए जिम्मेदार कारण 'पुलेतर' और 'पुशेतर' भी हैं। 'स्वेच्छा' और 'मजबूरी' के अलावा लोगों की एक-दूसरे की देखा-देखी में कमाने के निमित्त जाने वालों को हम किस थ्योरी में श्रेणीबद्ध करेगें? भिखारी ठाकुर के नाटक बिदेसिया की शुरूआत में बिदेसी और सुंदरी के संवादों को देखने की जरूरत है।

बिदेसी- हो प्रान प्यारी, सुनातारू?

प्यारी सुंदरी- का कहतानी, ए स्वामी जी?

बिदेसी- एगो सलाह बा।

सुंदरी- भला कवन सलाह बाटे?

बिदेसी- सलाह बा कि हमार मन करता जे तनी कलकता से जाके हो अइती।

सुंदरी- रउआ कलकत्ता जाये के कहत बानीं, रउवा कवना बात के तकलीफ बाटे?

बिदेसी - हमरा कवनो बात के दुख-तकलीफ नईखे, बाकी हमार दोस्त अइलहँ कलकत्ता से। कलकत्ता के समाचार सुनि के हमरो तबियत कइले बा कि हमहूँ जाइब। पंद्रह दिन में लबटि के चलि आइब।"[8]

जरा इस संवाद के अंतिम पंक्तियों पर गौर करें; सुंदरी का सवाल कि आपको किस चीज की कमी है, जो कलकत्ता जाओगे? बिदेसी का जबाब है कि उसे किसी चीज की दु:ख-तकलीफ नहीं है लेकिन उसका दोस्त कलकत्ता से आया है और उससे वहाँ के बारे में सुनकर उसका भी मन कलकत्ता घूमने का कर रहा है और वह पंद्रह दिन में लौट आएगा। किसी चीज की तकलीफ न होना, दोस्त से कलकत्ता के बारे में सुनकर वहाँ जाने के लिए 'तबीयत' हो जाना और पंद्रह दिन में लौट आने की बात- को हम प्रवसन के कारणों में 'स्वेच्छा' या 'मजबूरी' दोनों में से किसका नाम लेंगे? मामला बड़ा जटिल है। कहना न होगा, 'स्वेच्छा' या 'मजबूरी' में काम करने गये लोगों को श्रेणीबद्ध करके काफी अध्ययन हो चुका है। पर उपर्युक्त तर्क- जिसे एक नया नाम देने की जरूरत है, जो संस्कृति क्षेत्र से उभरकर आया है पर ऐसा नहीं है कि यह स्थिति समाज में नहीं होगी- को देखकर लगता है कि प्रवसन के 'पुल' और 'पुश' का

सिद्धांत अपर्याप्त है। इसके इतर जाकर भी हमें प्रवसन के संदर्भों को समझने की जरूरत है।

प्रवास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का खुलासा संस्कृति को समझने में मददगार साबित होगा। इतिहास में भोजपुरी पट्टी से मुगल शासन काल से ही सिपाही के रूप में प्रवास-प्रक्रिया दीखती है। विलियम इरविंग लिखित 'दि आर्मी इंडियन मुगल ' (लंदन, 1903, पृ 169-169) से ज्ञात होता है कि ... मुगलों के शासन में दिल्ली तथा पश्चिम में भोजपुरियों विशेषत: भोजपुरी क्षेत्र के तैलंगो को बक्सरिया कहा जाता था। 17 वीं तथा 18 वीं शताब्दी में भोजपुरी तथा उसके पास में ही स्थित बक्सर, फौजी सिपाहियों की भर्ती के दो मुख्य केन्द्र थे। 18 वीं सदी में जब अंग्रेजों के हाथ में देश का शासन- सूत्र आया तब उन्होंने भी मुगलों की परंपरा रखी और वे भी भोजपुर तथा बक्सर से तिलंगों की भर्ती करते रहे।[9] ऐतिहासिक घटनाएँ बताती हैं कि श्रम का पलायन इस इलाके के लिए कोई नहीं बात नहीं रही है। 19 वीं सदी के अंत में दिए गए आंकड़ों (बार्डिलोन रिर्पोट) से पता चलता है कि 18 वीं और 19 वीं सदी में बंगाल-रंगपुर और माइमेसिंग का अधिकांश क्षेत्र- यहाँ तक कि बर्मा में कृषि कार्यो एवं अन्य हस्तकरघे का काम इस इलाके के लिए आकर्षण का केन्द्र था। टैंकों की खुदाई और सफाई करना, सड़कों की मरम्मत, रेलवे लाइन बिछाना, सर्दियों में फसलों की कटाई, महिलाओं का भी अपने पतियों के साथ अनाजों की पिसाई, घिसाई इत्यादि। आसाम- बिहार- बंगाल में रेलवे लाइनों को बिछाने वाले, जो प्रवासी मजदूर थे वो भोजपुरी इलाके के थे। कलकत्ता और हावड़ा के निकट कूली और मिल मजदूरों का काम करने वाले भोजपुरी क्षेत्र के लोग थे।"[10] उस दौरान प्रवास में बहुतों ने यदि नये पेशों को चुना तो कइयों ने अपनी जातीय वृत्ति के अनुरूप श्रम रूपों को चुना। ब्राह्मणों ने आमतौर पर पुरोहिती, पुजारी, क्लर्क, चपरासी, रसोइया और मजबूरी में कुली तथा दिहाड़ी मजदूर का काम किया। राजपूत मुख्यत: सिपाही, दरबान, जेलवार्डेन, चपरासी तथा रेलवे का गार्ड बने। अहीर मजदूर, घरेलू नौकर, दुकानदर बने।

कहार, कूर्मी, दुसाध भी मजदूर और चटकलिहा हुए। कहार भी घरेलू नौकर हुए। दुसाध प्रायः साइस का काम किये।"[11] इस तरह यह मौसमी रोजगार न केवल व्यापारी यात्रियों के लिए फायदेमंद हुआ वरन् उन प्रवासी मजदूरों के गाँव के जमींदारों और साहूकारों के लिए भी लाभप्रद था। परंतु इसके ठीक विपरीत, औपनिवेशिक प्रवास से जमींदार और साहूकार प्रसन्न नहीं हुए, यहाँ तक कि थाना, पुलिसवाले भी इस श्रम प्रवास से नाखुश थे। कारण था- इस श्रम प्रवास का दीर्घकाल तक का होना और मजदूरों को लौटकर आने की कम संभावना। जॉर्ज ग्रियर्सन की रिपोर्ट इस संबंध में पूरे विस्तार से ब्यौरा देती है।[12] मौसमी और औपनिवेशिक प्रवास से संबंधित आँकड़ों का सामुदायिक एवं जातीय आधार पर अवलोकन करने पर उस आम ध रणा को खारिज होना पड़ता है जिसमें तर्क किया जाता है कि मौसमी या उपनिवेशों में प्रवास सबसे अधिक निम्नजाति के लोगों ने किया।[13] निम्नजातियों के प्रवास के संबंध में नये शोध-अध्ययनों में एक तथ्य यह भी उभर कर आया है कि निम्नतर जातियाँ अत्यंत निर्धन थीं। उनकी निर्धनता प्रवास करने के खर्च को भी संवहन नहीं कर सकती थी।[14] आज भी भोजपुरी क्षेत्र की निम्नतर जातियों में मुसहर-जाति बहुत ही कम लगभग न के बराबर प्रवास करती है।

बहरहाल, भोजपुरी क्षेत्र से जाने वाला मौसमी प्रवासी मजदूर रोजगार की जिन नगरियों में पहुँचता है। वहाँ जिन चीजों से आकर्षित होता है, उस पर वह तत्काल टिप्पणी करता है। उसकी टिप्पणियाँ सांस्कृतिक साक्ष्यों में मौजूद हैं। बम्बई पहुँचा और वहाँ के माहौल को देखा तो टिप्पणी की - बिन इंजन गाड़ी चले बिन गरजे बरसाति/ बिना पुरुष नारी फिरे, ई बम्बई के हालि।"[15] यानि बम्बई में बिना इंजन की गाड़ी चलती है, बिना मौसम की बरसात होती है और बिना पुरुषों के यानी स्त्रियाँ अकेली घूमती हैं और जब कलकता पहुँचा तो वहां जिन चीजों के प्रति आकर्षित हुआ है-उनमें ऊँचे-ऊँचे मकान, चिकनी, साफ-सुथरी सड़के, ट्राम (उससे पहले फिटन, बग्धी, टमटम आदि),

बिजली बत्ती की रोशनी, तालाबों में स्नान करती है बंगालिन औरतें, लाइन/ बस्तियों में चहकती- फुदकती स्त्रियां (रंडियाँ) प्रमुख थीं। वहां रहते हुए उसे धीरे-धीरे समझ में आने लगता कि -घोड़ा गाड़ी, नोना पानी अउर राँड़ के धाका/ यह तीनों से बचल रहे त केलि करे कलकात्ता।"[16] यानी यदि कलकत्ता में मौज करना है तो घोड़ा गाड़ी, खारा पानी और बदचलन औरतों से बचा रहना होगा। यह लोकोक्ति ट्राम, मोटर आदि आधुनिक सवारियों के प्रचलन से पूर्व की है यानी 19वीं सदी के उतरार्द्ध में कलकत्ता के बारे में यह लोकोक्ति निर्मित हुई है। इसी तरह वहां पेश की खोज में गये, पर आर्थिक संकट और शिक्षा के अभाव में नौकरी नहीं मिली तो सड़कों पर भूखे ही कई-कई दिन गुजारना पड़ा, तब उसकी अभिव्यक्ति निकलकर आयी- जे गइल कलकत्ता से खेह खाइल अलबत्ता"[17] यानी जो कलकत्ता गया, वह खूब दुगर्ति में फंसा। लेकिन जब अंतत: नौकरी मिल भी गई तो कई-कई साल तक नौकरी करनी पड़ रही है; घर पर कृषि या घर गृहस्थी के लिए पैसे भेज देने पर भी छुट्टी नहीं मिलती है। एक ही स्थिति में छुट्टी मिलेगी। जब घर पर विपत्ति या संकट आया हो और जल्द आने के लिए तार भेजा गया हो। नौकरी में यही परतंत्रता है। इसी परतंत्रता को अभिव्यक्त करता है-यह गीत- कवन संकट धनि परले त अइसन वियोग लिखे/ देहु न साहेब हमके तलबिया, त हमहूँ घर जइबो।"[18] वहीं दूसरी ओर, यदि छुट्टी मिल भी गई और चाहे होली हो या दीवाली या फिर कोई अन्य उत्सव-त्यौवहार; पर छुट्टी पूरी हो जाने पर; नौकरी पर जाना ही पड़ता है। नौकरी करने वालों की इस विवशता और परतंत्रता को दर्शाता है यह गीत-

फागुन भरि दिलदार, घरे रहु बालम।

ढ़ोल छवा देवो, झालि मंगा देवो।

बलु दुअरे पर जलसा लगा देवों।

फागुन भरि दिलदार घरे रहु बालम।।[19]

नौकरी के लिए तथा नौकरी में व्यक्ति की कितनी दुर्दशा होती है, उसका यथार्थ चित्रण भोजपुरी लोककथा 'चुम-चटाकी' में हुआ है। नगर में धन के लिए पुरूष अपने सेठ का पांच लात भी सहर्ष स्वीकार कर लेता है। वह सोचता है कि यहां हमें कौन पहचानता है? भले ही पांच लात पड़ेंगे अपमान होगा किंतु रूपये तो मिलेगें।[20] मिल मालिक और पूँजीपति किस तरह श्रमिकों का शोषण करते हैं। उस शोषण की भी यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है। चाहे कितनी भी भारी वर्षा क्यों न हो, श्रमिक को काम पर जाना ही होगा। समय पर न पहुँचने पर तलब में कटौती कर दी जाएगी। पत्नी अपने पति से पूछती है-राजा हो बड़ा कड़ा जल बरिसे नौकरी कइसे जइब ना/ रानी हो पाँवे पनहिया, हाथ में छाता मुखे रूमलिये ना,/ धीरे-धीरे चलि जइबो, साहब तलब कटिहे ना।"[21] यानि हे राजा (पति)! बाहर बड़ी भारी वर्षा हो रही है, नौकरी पर कैसे जाओगे? पति कहता है कि हे रानी! पाँव में जूता, हाथ में छाता और मुख पर रूमाल रखकर नौकरी पर चला जाऊँगा। नौकरी पर नहीं जाऊँगा तो मेरा साहब (मालिक) तलब (वेतन) में से कटौती कर देगा। उपर्युक्त गीतों पर यदि गौर करें तो एक बात तो साफ होती है कि इनमें नौकर और मालिक जैसे दो वर्ग हैं। मालिक शोषक की भूमिका में है और मजदूर शोषित की भूमिका में। पर नौकर में वर्गीय चेतना नहीं है। दूसरी बात, श्रमिक और मालिक के बीच सीधा संबंध है। बीच में कोई बिचौलिया नहीं है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि इन गीतों के केन्द्र में, जो श्रमिक है, वह असंगठित क्षेत्र का मजदूर है। अन्यथा संगठित क्षेत्र (मिल/ कारखानों) में बिचौलिये जैसे सरदारों की शोषण की भूमिका भी इन गीतों में मौजूद होती है। यहाँ भी शोषण है पर राहत इस बात की है कि मजदूरी नगद मिलती है और गांव की परंपरागत मजदूरी से कहीं अच्छी मिलती है।

भोजपूरी क्षेत्र से 20 वीं सदी के शुरूआती दशकों में खेतिहर किसानों एवं मजदूरों का बड़े पैमाने पर पलायन हुआ। यह पलायन इतना हुआ कि लोग काफ़िला के काफ़िला कलकत्ता इत्यादि रोजगार की नगरों

की ओर जाने लगे । औपनिवेशिक आधिकारिक लेखनों में इस विषय में आँकड़े उपलब्ध हैं। 1905 ई. में बी. फोले नामक एक अंग्रेज अधिकारी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है। 20 वर्ष पहले जूटमिलों में सारे मजदूर बंगाली थे। अब उनका स्थान संयुक्त प्रांत और बिहार के हिन्दुस्तानियो ने ले लिया।... जिसका परिणाम यह हुआ कि आज अधिकांश मिलों में दो तिहाई मजदूर देहाती हैं।"[22] बी. फोले के इस कथन को निम्नलिखित तालिका के माध्ययम से आँकड़ों में देखा जा सकता है–

परिशिष्ट - I

1921-41 में जूट मिल मजदूरों के मूल-क्षेत्र (आँकडें प्रतिशत में)

वर्ष	बंगाल	बिहार	उड़ीसा	संयुक्त प्रांत	मद्रास	मध्य प्रांत	अन्य
1921	24.1	33.4	11.4	23.2	4.6	–	3.2
1928	24.8	37.1		15.7	11.2	9.1	1.9
1929	1.7	60.0		5.0	14.0	4.0	–
1941	11.6	43.1	3.4	36.4	1.6	–	0.8

स्रोत: रणजीत दास गुप्त 'Factory Labour in Eastern India: Sources of Supply, 1855-1946 - Some preliminary findings', The Indian Economic and Social History Review, 1985, Part-XIII, 3 P. 293, Table.6, जिसमें 1928 का कॉलम शामिल नही है जो W.B.S.A., Commerce Branch, अप्रैल 1930, A 7.12 से लिया गया है। 1921 से संबंधित आँकड़े समस्त श्रमिक बल पर लागू होते हैं और 1928 के आँकड़ों का संबंध 25 जूट मिलों से है। 1929 के आँकड़े अनुमानित हैं और 1941 के आँकड़े जगदल क्षेत्र में मिल-मजदूरों के नमूना सर्वेक्षण से लिए गए हैं। इसीलिए वे समस्त मजदूर वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। यहां बिहार और संयुक्त प्रांत के मजदूरों की

संख्या को जोड़कर देखने पर भोजपुरी प्रवासी श्रमिकों की संख्या का अंदाजा लगाया जा सकता है। 1921 में बिहार और संयुक्त प्रांत के मजदूरों की संख्या 33.4: और 23.2: को जमा करने पर 56.6: यानि पूरे मिल-मजदूरों के आधे से अधिक संख्या में हैं वहीं 1941 के प्रतिशत आँकड़ों पर गौर करते हैं तो पता चलता है कि 43.1: जमा 36.4: बराबर 89.5: है। यह स्थिति केवल संगठित क्षेत्र में उपस्थित भोजपुरी प्रवासी श्रमिकों की है। असंगठित क्षेत्र के संदर्भ में इस तरह का कोई आँकड़ा मौजूद नहीं है। पर इतने बड़े पैमाने पर भोजपुरी क्षेत्र से बाहर जाने की उपस्थिति को संस्कृति ने दर्ज किया है- के हो जइहें हाजीपुर, के हो जइहें पटना, के हो जइहे कलकतवा के नौकरिया ए बिरना/ ससुर जइहें हाजीपुर, भसूर जइहे पटना/पिया जइहें कलकातावा नोकरिया ऐ बिरना"[23] इस गीत में परिवार के सभी मर्द सदस्यों का कमाने के लिए बाहर चले जाने की स्थिति तो निश्चित रूप से है परंतु महत्वपूर्ण यह है कि हाजीपुर और पटना की अपेक्षा कलकत्ता की नौकरी ज्यादा महत्वपूर्ण है और भी कारण हो सकते हैं।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भोजपुरी क्षेत्र से श्रमिकों की प्रवसन की परंपरा के अवलोकन से कई महत्वपूर्ण पक्ष उभरते हैं। एक, जब-जब जिस व्यवस्था के अंतर्गत भोजपुरी क्षेत्र से लोगों का बाहर कमाने के निमित्त जाना हुआ, संस्कृति ने उसे पर्याप्त स्थान एवं सम्मान दिया और कई बार खुशी भी जाहिर किया। इससे यह तर्क खारिज हो जाता है कि तत्कालीन संस्कृति ने प्रवसन को केवल नकारात्मक रूप में ही देखा । जो लोग संस्कृति में प्रवसन की उपस्थिति को नकारात्मतक रूप में देखते हैं, संभवत: उन्हें मालूम नहीं है कि संस्कृति का मूल कर्म स्थितियों का उत्सव मनाना नहीं, बल्कि स्थितियों से उत्पन्न समस्याओं, विडम्बनाओं, विकृतियों इत्यादि को उभारना होता है ताकि व्यक्ति उनसे यथासंभव उबरने की कोशिश करे। दूसरे, जहाँ तक प्रवसन में 'नौकरी' के संबंध में संस्कृति की समझ की बात है, बेशक आदिकाल से ही, नौकरी को

अधम माना जाता रहा है। 'अधम' इसलिए कि उसमें गुलामी के कई तत्व रहे हैं। भारतीय इतिहास में गुलामी के विरूद्ध संस्कृतियों का संघर्ष भी रहा है। तीसरे, प्रवसन में श्रमिकों की सांस्कृतिक साक्ष्यों की उपस्थिति से ज्ञात होता है कि संस्कृति ने वर्ग की समझ के अलावे अन्य दूसरे तरह के वर्गों (जातीय, धार्मिक, क्षेत्रीय, लिंगीय) की समझ भी बनायी है।

II

कलकतिया, भिखारी ठाकुर और बिदेसिया

कहना ना होगा, जिन दिनों भोजपुरी क्षेत्र से पूरब यानी बंगाल विशेषत: कलकत्ता में लोगों का पलायन-काफ़िला का काफ़िला हो रहा था, उन्हीं दिनों (1910 ई. के आसपास) भोजपुरी का शेक्सपीयर कहा जाने वाला नाटककार भिखारी ठाकुर (1887-1971 ई॰) ने भी रोजी-रोटी की तलाश में बंगाल की ओर रुख किया था। युवावस्था में जिज्ञासाएं और भ्रमण की लालसाएं अधिक होती हैं। वही जिज्ञासाएँ और लालसाएँ लेकर भिखारी ठाकुर भी कमाने के लिए खड़गपुर पहुँचे। वहाँ भिखारी ने अपने जातीय पेशे यानी हजामत बनाने का काम किया। अपने सृजनकर्म के प्रौढ़ावस्था में इस संबंध में लिखा भी—"लालसा रहे जे बहरा जाई। छुरा चलाकर दाम कमाई / गइली मेदिनीपुर के जिला, ओही जे देख ली कुछ रामलीला।"[24] क्रमश: ठाकुर दुअरा (पुरी) जाने का निर्णय किया। वहाँ चनन तालाब में स्नान के बाद धार्मिक ज्ञानार्जन भी किया। तुलसीकृत 'मानस' का जहाँ पाठ होता, वहाँ जाकर श्रवण करने लगता। उन्ही दिनों भुवनेश्वर की रथयात्रा भी देखी। वहाँ से फिर कलकत्ता चला गया। घर लौटा तो लोगों से दोहा-चौपाई का अर्थ पूछते-पूछते रामलीला करने की संकल्पना मन में जागी। 'निजपुर में करि के रामलीला, नाच के तब बन्हलीं सिलसिला/चूपे भाग के नाच में जाई, बात बनाके दाम कमाई।"[25] यानि रामलीला करने के बाद नाच पार्टी का सिलसिला शुरू किया। माँ-बाप के लाख मनाही के बावजूद चुपके से नाच में जाता और बात बनाकर दाम कमाता। स्पष्ट है प्रवासी जीवन की प्रेरणाओं ने घर पर कमाने का एक जरिया प्रदान किया। तत्कालीन दौर में यह जरिया सामाजिक दृष्टि से हेय था। फिर भी भिखारी ने उसके जरिये सबसे लोहा मनवा लिया। अंग्रेजी राज में उन्होंने 'रायबहादुर' की पदवी तक ले लिया।

'रायबहादुर' भिखारी ठाकुर का बचपन बेहद दैन्यावस्था में बीता था। जन्म 18 दिसम्बर, 1887 ई. को भोजपुरिया माटी सारन जिले के

कुतुबपुर गाँव (पहले भोजपुर जिला में था) में एक गरीब एवं निम्नजातीय नाई परिवार में हुआ। बचपन गाय-बकरियाँ चराने में बीता। पढ़ाई में मन नहीं लगा। उन्हीं दिनों शादी भी हो गई। होश संभाला तो जातीय पेशे के अनुरूप अपने गृहस्थों को नेवता लेकर जाना पड़ता। बहुत कष्ट होता-सामाजिक, आर्थिक और शारीरिक भी। तब पढ़ाई की ओर से हटी 'अभिरूचि' को कोसा और भगवान नामक एक बनिये से अक्षरज्ञान लिया। यहीं से उनके जीवन में गतिशीलता की शुरूआत हुई और अंत तक चलती रही।

सर्वप्रथम भिखारी ठाकुर ने प्रवासी जीवन से जो सीखा, जो अनुभव प्राप्त किया था। उस अनुभव को बहुत सूक्ष्म एवं व्यापक पैमाने पर अभिव्यक्त भी किया। उसी अनुभव का परिणाम उनके लोकप्रिय नाटक 'विदेसिया 'गबरघिचोर' और 'कलजुग प्रेम' हैं। वे देख रहे थे कि प्रवसन ने कैसे शहर और गाँव के जीवन को अलग कर दिया है? शहर में गया हुआ व्यक्ति कैसे बुराइयों के शिकंजे में कसाता जा रहा है? कैसे ग्रामीण जीवन को उसने प्रभावित किया कि परिवार जैसी संस्था में दरार पड़ने लगी। भिखारी ठाकुर एक तरफ 'पउनी' जातियों को प्रवसन करने के लिए उकसा रहे थे तो दूसरी तरफ, प्रवसन में बूरी आदतों के शिकार हो रहे लोगों को सावधान भी कर रहे थे। अपनी आत्मकथात्मक रचना 'नाई बहार' में भिखारी ने लिखा-'जजमनिका में कुछ ना बाटे, लगब सीलवट लोढ़ा चाटे/नगद जाके कमइऽ बहरा। रहे ना दीही अकाल के पहरा।'[26] यानि इस यजमानी व्यवस्था से कुछ नहीं मिलने वाला है। हम जैसे पउनियों (किसानों की सहयोगी जातियाँ) को सीलवट लोढ़ा चाटना पड़ जाएगा। बेहतर है कि हम बाहर जाकर काम करें। अकाल की स्थिति में भी चिंता नहीं होगी। लेकिन वहीं दूसरी तरफ भिखारी बाहर गये व्यक्ति की सारी चिंताएँ, मूल्य, संस्कार इत्यादि गाँव की होनी चाहिए, उसका लगाव अपने मूल्यों से नाभिनलबद्ध होनी चाहिए इत्यादि की शिक्षा भी देते हैं। उनका प्रसिद्ध नाटक 'बिदेसिया' इसी विमर्श के तहत लिखा गया है।

जैसे के पहले जिक्र हो चुका है कि जिन दिनों भिखारी का प्रवास हुआ था, उन दिनों भोजपुरी क्षेत्र से लोगों का पलायन बड़ी भारी मात्रा में हुआ था। भोजपुरी क्षेत्र का किसान, खेतिहर मजदूर, उसकी सहयोगी जातियाँ इत्यादि जितनी शोषण की शिकार थी, शहर में आकर वही अकुशल प्रवासी मजदूर बनती हैं और वह भी शोषण का शिकार होने को अभिशप्त होती हैं। उन दिनों के प्रवासी श्रमिकों के शोषण के चरित्र के बारे में औपनिवेशिक अधिकारियों एवं संस्थाओं द्वारा सर्वे करके बटोरे गए आँकड़ों का अध्ययन किया है इतिहासकार दीपेश चक्रवर्ती ने। इनकी पुस्तक के हवाले से आर. एन. गिलक्रिस्ट-जो बंगाल का श्रम सूचनाधि कारी था, का कथन उल्लेखनीय है। ''सरदार (बिचौलिया) उसका (मजदूर का) किराया और सस्ते में खाने-पीने के लिए थोड़े पैसे दे देता है।....वही उसे कुछ पैसे भी इसलिए पेशगी देता है कि हो सकता है कि उसे फौरन काम न मिल पाए। वह उसे किसी क्वार्टर विशेष में रहने और खास दुकान से चावल खरीदने की हिदायत करता। धीरे-धीरे उसे (मजदूरों को) यह मालूम हो जाता है कि जिस मकान में वह अन्य मजदूरों के साथ रहता था और जिसका वे सभी किराया देते हैं। वह सरदार का ही है।"[27] इस संदर्भ में कांतिचंद्र सोनरिक्शा और अख्तर हुसैन रायपुरी की कहानी क्रमशः 'मजदूर' और 'चौराहा' ठेकेदारी एवं सरदारी व्यवस्था की यथार्थवादी ढंग से खुलासा करती हैं।[28] कारखानों में जो सरदारी प्रथा थी, वह बेशक साधारण मजदूरों के उनके निरीक्षकों या उच्चतर अधिकारियों द्वारा किया जाने वाला शोषण का ही दूसरा रूप था। लेकिन यह जायज तौर पर कहा जा सकता है कि मालिक इस प्रकार की भ्रष्टाचार की छूट देते थे। क्योंकि उनसे उन्हें ऐसी संस्थाओं में पैसा नहीं लगाना पड़ता था जो पूँजीवादी श्रमिक नियंत्रण की विशेषता थी। 28 मिल मजदूरों द्वारा 1906 ई. में किसी बंगाली वकील के लिखे गए पत्रों से उनके शोषण का और खुलासा होता है-''हमें छुट्टी लेने के लिए साहेब से अनुमति लेनी पड़ती है। लेकिन छुट्टी पर जाते समय हमें बाबू और सरदार को घूस देनी पड़ती

है। इसके लिए वे हमसे हर महीने रिश्वत लेते हैं और तब भी जब दुर्गापूजा का पर्व आता है। अगर हम रिश्वत नहीं दें तो वे हम पर ठीक ढंग से काम न करने का आरोप लगाकर साहब से हम पर जुर्माना लगवा देते हैं। या नौकरी से निकलवा देते हैं''[29] कहना न होगा कि गाँवों में जमींदारों से किसानों को जो भय था वही भय मजदूरों से अपने सरदारों से था। शहर का प्रवासी श्रमिक वही कभी किसान था या यदा-कदा मौसमी प्रवासी की स्थिति में भी किसान ही रहता, जिसे संस्कार रूप में भय मिला था। इस संस्कार के अंतर्गत सरदार और मजदूर भी आता है, जिसमें धर्म, संप्रदाय, भाषा, क्षेत्र इत्यादि आदिकालीन विश्वासों के तहत व्यवहार किया जाता है। यही संस्कार तत्कालीन प्रवासी श्रमिकों की सांस्कृतिक जीवन को भी समझने में मदद करेगा।

यदि हम भिखारी ठाकुर के साहित्य में उन प्रवासी श्रमिकों की मौजूदगी को देखें तो स्पष्ट रूप से कहना पड़ेगा कि उन्होंने अपने साहित्य में मजदूर वर्ग के शोषण को बतौर विमर्श के रूप में भले ही न उठाया हो; परंतु वे जाने-अनजाने उस तथ्य को नजरअंदाज नहीं कर पाये हैं। उनके 'विदेसिया' नाटक का बिदेसी भी वही प्रवासी श्रमिक है, जिसने शहर में आकर एक दूसरी महिला से शादी कर ली है और बच्चे भी हो गए हैं। वह अपने गाँव को भूल गया है लेकिन बटोही के समझाने पर वह गाँव लौटने की तैयारी करता है और गाँव लौटने के लिए जैसे ही वह बाड़ी से निकलता है, बाड़ी वाला और साहूकार क्रमशः अपना मकान किराया और बकाया राशि लेने के लिए आ धमकते हैं। बिदेसी के पास रूपये-पैसा न रहने पर उसको वे पीट देते हैं। यहाँ तक कि कपड़े भी उतरवा लेते हैं। विदेसिया नाटक का रंग संकेत द्रष्टव्य है–''बाड़ी वाला आ साहूकार आ के घर भाड़ा आ कर्जा के तगादा करत बाड़े/भाड़ा आ कर्जा ना चुकवला खातिर रक-झक तोर मोर होता। बाड़ीवाला आ साहूकार बिदेसी के कपड़ा उतरवा लेत बाड़े। बिदेसी एक गमछी पेन्ह के घर जात बाड़े।''[30] जैसे के पहले चर्चा हो चुकी है, परन्तु फिर भी यह

बात ध्यान देने योग्य है कि बाड़ी वाला वही मकान मालिक है, वही सरदार है, जो मजदूरों से कमीशन के नाम पर रिश्वत लेकर उन्हें कारखानों आदि जगहों पर काम दिलाता है, अपने ही मकान में रहने के लिए कमरा भी मुहैया करवाता है और अपने मकान की दुकान से ही राशन आदि खरीदने के लिए हिदायत भी देता है। भिखारी ठाकुर उस सरदारी व्यवस्था को नजरअंदाज नहीं कर पात हैं। इससे उस व्यवस्था के शोषण की व्यापकता का पता चलता है। बिदेसी के घर लौट जाने पर उसकी दूसरी पत्नी सलोनी (रंडी) भी उसके गाँव जाने के लिए निकलती है तो बाड़ीवाला मना करता है कि वह न जाए–

''बाड़ी वाला–'का हो चल देलू?'

रंडी–'हँ, चल देलीं।'

बाड़ीवाला–'हमार घरभाड़ा के दी?'

रंडी–'हमरा रउरा कवनो बात बा?

(बाड़ी वाला जाये के मना करता, बाकी रंडी आपन सर-समान के साथे बिदेसी के घर खातिर चल देत बाड़ी।'[31] बाड़ीवाला द्वारा मना किये जाने के पीछे दो राय हो सकते हैं। एक तो एकदम स्पष्ट है कि रंडी काम धंधों करके उसके घर का भाड़ा चुका देगी लेकिन दूसरा कारण, बाड़ीवाले के मन में यौन शोषण की स्थिति भी हो सकती है। क्योंकि बिना मर्द के औरतों का नाम 'रंडी' श्रेणी में लिखा जा चुका था। इस तरह यह तो तय है कि पुरुष मजदूर की अपेक्षा महिला मजदूर अधिक शोषित होती हैं। विदेसिया की सलोनी (रंडी) उस महिला मजदूर का प्रतिनिधित्व करती है, जो गाँव के तमाम सामाजिक बहिष्कारों की स्थिति में कलकत्ता जैसे शहर में भागकर पनाह लेती हैं, मजदूरी करती हैं और सहकर्मी पुरुष साथी के साथ शादी करती हैं तो 'रंडी' संज्ञा से जानी जाती हैं। इन प्रवासी महिलाओं के संबंध में आगे विस्तार से चर्चा होगी। भोजपुरी क्षेत्र

से जाने वाली महिलाएं, जो अकेले गयीं, सामाजिक उत्पीड़नों की शिकार थीं। इस तरह की महिलाएँ ही अधिकतर थीं। इसलिए महिलाओं का प्रवसन अधिकतर मजबूरी में ही हुआ। इन अत्याचार पीड़िता महिलाओं की खबरें तत्कालीन समाचार पत्रों से लेकर साहित्य तक में भारी मात्रा में दर्ज में है।

भिखारी ठाकुर के साहित्य में जो प्रवासी श्रमिक उपस्थित है, उसका कलकत्ता से बहुत गहरा संबंध है। कलकत्ता में रहने के कारण उसे 'कलकतिया' होने का संबोधन मिला। शहर कलकत्ता से ठाकुर जी के गीतों के नाता के सम्बन्ध में श्री डी.एन. राय का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है- भिखारी ठाकुर जी के गीतों में कलकत्ता का ज़िक्र वहाँ के लोगों के लिए एक और आकर्षण का बिन्दु था। जिस समय की यह बात है, उस समय 'कोहिनूर ग्रामोफोन कम्पनी' द्वारा शायद बिदेसिया की रिकॉर्डिंग हो गई थी और कम से कम कलकत्ता या उसके आस-पास में बसे भोजपुरी या हिन्दी भाषा-भाषी लोग जान चुके थे कि कुतुबपुर दियारा के भिखारी ठाकुर के हृदय में कलकत्ता रचा बसा है। थोड़ी बहुत भोजपुरी समझने वाले अभोजपुरी या अहिन्दी भाषा-भाषी लोग भी उनके गीत- 'पिया गइलन कलकत्तवा, तूरि दिहलन पति पतनी के नातवा' सुनकर कलकत्ता के उल्लेख मात्र से हुलस उठते हैं"[32] उन दिनों कलकत्ता मजदूरों का अपना शहर था। इसी को केन्द्र में रखकर भोजपुरी और हिन्दी के कवि महेन्द्र शास्त्री ने लिखा था- जिसे कहीं शरण नहीं, उसका भी स्वागत है,/ इस महासमर में सबको है खपना।/ काम हैं हजारों जो हजारों प्रकार के हैं,/ देर तक किसी को पड़ेगा नहीं जपना।/ झरिया से नईहाटी, हबड़ा, सियालदे, देह न चुराओ तो सुख नहीं सपना, / दिल्ली है हाकिमों की, बम्बई भी मालिको की, कलकत्ता मजदूरों का अपना।"[33] कहना न होगा, कलकत्ता में सबसे अधिक संख्या भोजपुरी क्षेत्र के प्रवासी मजदूरों की है। यह संख्या इतनी अधिक है कि एक संपूर्ण भोजपुरी प्रवासी श्रम संस्कृति निर्मित हो गयी है। जिसकी अभिव्यक्ति का सबसे मुखर एवं

बड़ा केन्द्र कलकत्ता का धरमतल्ला मैदान है। इस सम्बन्ध में भोजपुरी भाषा के विद्वान उदयनारायण तिवारी ने इस विषय में लिखा है–"भोजपुरी क्षेत्र के बाहर भोजपुरियों का सबसे बड़ा अड्डा कलकत्ता है। कलकत्ता को हम वास्तव में भोजपुरी जीवन और संस्कृति का केन्द्र कह सकते हैं। हजारों भोजपुरी कलकता तथा भगीरथी के किनारे स्थित जूट के कारखानों में काम करते हैं। कलकत्ता में प्रति रविवार को वे सहस्रों की संख्या में धरमतल्ला के मैदान में 'औक्टरलोनी मॉनुमेंट' में एकत्रित होते हैं। इस स्थान को वे कबड्डी, कुश्ती आदि खेलों से तो मनोरंजन करते ही हैं; किन्तु कुछ लोग बिरहे, कजली, फाग और चैता आदि भी ऋतु के अनुसार गाते हैं। भोजपुरी गीतों में प्रचलित लोरिकी, सोभनयका और सोरठी आदि लोककथाओं को भी यहाँ लोग गाते हैं। यही कारण है कि अनेक भोजपुरी पुस्तकों का प्रकाशन दुधनाथ प्रेस, सलकिया, हाबड़ा से हुआ।"[34] इसी धरमतल्ला मैदान में भिखारी ठाकुर ने भी अनगिनत बार अपने नाटकों का प्रदर्शन किया था और उनकी रचनाएँ फुटकल रूप में दुधनाथ प्रेस, सलकिया हाबड़ा से छपी भी थी। डी.एन. राय ने यादों की खोह से (1954 ई.) जो बात बतायी है, उसका हवाला देना महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है- वे (भिखारी ठाकुर) लगन में बिहार के भोजपुरी अंचल में कमायी करते और लगन खत्म होने पर अपनी नाचमंडली एवं गिरोह के साथ कोलकात्ता के आस-पास भोजपुरी बहुल इलाकों में नाच-तमासा दिखाने के लिए चले आते। इन सभी 'चटकलिहा' और 'करखनिया' अंचलों में अच्छी कमायी होती।... उनके आगमन के प्रचार-प्रसार के लिए कोई माइक या पोस्टर की जरूरत नहीं पड़ती। मुहें-मुँह सभी जगह खबर फैल जाती और नाच-स्थल पर एक मज़ेदार मेला लग जाता। दो वक्त बढ़िया से खाने- पीने वाला भोजपुरिया मध्यम वर्ग को क्या कहा जाए? चटकल का मजदूर, ठेला रिक्शा चालक, पेट पर गमछा बाँध, दाँत से दाबकर दो 'पइसा' की कमायी करने वाला, 'दे दे राम दिला दे राम' की रट लगाकर भिक्षा की झोली लेकर फेरी लगाने वाले, नाच-तमासे के

जादूगर भिखारी ठाकुर नामधारी एक अदद आदमी को देखने और उनकी बात सुनने के लिए कभी शामियाना तो कभी खुले आसमान के नीचे रात कटाने एवं उनके नाच स्वांग पर लहालोट हो जाता।"[35] आज भी कलकत्ता का धरमतल्ला मैदान प्रति रविवार भोजपुरी संस्कृति का केन्द्र बना हुआ है। भोजपुरी संस्कृति का केन्द्रीकरण शायद ही आज तक इस मैदान को छोड़कर अन्यत्र कहीं हुआ हो। निम्नलिखित परिशिष्ट उस मैदान की सांस्कृतिक छवि को दर्शाता है।

परिशिष्ट - II

धरमतल्ला मैदान से ... दिनांक: 27.06.2007

कहना न होगा इतिहास में भोजपुरी बेल्ट के लोगों का कलकत्ता से क्या रिश्ता रहा है। आज भी वह रिश्ता टूटा है क्या? कम-से-कम पूरब जाने वाली रेलगाड़ियाँ, डाक चिट्ठियाँ इत्यादि तो ना में ही जवाब देती हैं। उस रिश्ते के अंदरूनी चीजों को ही जानने के लिए तो मैं कलकत्ता (हाबड़ा) को जाने वाली दानापुर-हाबड़ा एक्सप्रेस की सामान्य डिब्बे में सफ़र करना उचित समझता हूँ। भोजपुरी क्षेत्र से पश्चिम या पूरब को जाने वाली रेलगाड़ियों के सामान्य डिब्बों में लद-लद कर जाने वालों के बारे में भला कौन नहीं जानता है। अब तो महिलाओं की संख्या भी अच्छी खासी होने लगी है। माँगों में चटकार सिंदूर, हाथों में भरी चूड़ियाँ, चटकीली रंगीन साड़ी, लाल महावर से रंगे पांव। इस डिब्बे की अपनी विशेष गंध, स्वभाव और मिज़ाज़ हैं। सफ़र घुटनभरा है, पर रात भर की बात है। अचानक ध्यान आते हैं पढ़कर स्मृतियों में बने गिरमिटिया मजदूरों के सफ़र। उनकी यात्राएं कैसी होंगी? जिन्हें गोरी सरकार अपने उपनिवेशों में पानी के जहाजों में लाद-ठूँसकर ले गई थी, जहां पहुंचने के लिए महीनों लग जाते थे, बच गए तो पहुंच गए, मर गए तो समुन्दर में फेंक दिए गए। लीटी में

भरी मकुनी (सत्तू से बनी) की महक आती है, उबले चने में प्याज मिर्ची की घुघनी भी कम नहीं महक दे रही है। उसमें पसीने की गंध मिलकर एक तीसरी महक पैदा कर रही है। मन हिकने लगता है। फिर भी इन्हीं गंधों के साथ हिलकोरा लेते अधसोये-अधजगे लोगों को रेलिया लिये जा रही है- 'रेलिया बैरन पिया को लिये जाय रे।'

सुबह होने वाली है, मालूम होता है ट्रेन हाबड़ा पहुंचने वाली है, शाम को चढ़ते समय गाड़ी में जो धक्कमपेल मची थी, फिर वैसे ही हरकतें होने लगी हैं। आंखों में उन्नीदापन, पीठ पर बोरिया-बिस्तर लिये लोग उतरने लगे हैं। मैं भी पीछे-पीछे स्टेशन उतरता हूँ - हाबड़ा स्टेशन। सामने अखबार पर नज़र पड़ती है- आरक्षण की सरगर्मिया तेज हो गई हैं। स्टेशन से बाहर आता हूँ, वाहन खोजता हूँ- गेस्ट हाउस पहुचने के लिए। दिल्ली की अपेक्षा कलकत्ता की वाहन व्यवस्था अच्छी लगती है। बस कंडक्टरों का व्यवहार अच्छा है। बंगला बोलने पर जोर अधिक है। थोड़ी परेशानी होती है। अधिकतर बस में यात्रियों के आँखों पर चश्में लगे हैं, चेहरे पर एक गंभीरता का आवरण है। महिलाएँ जागरूक हैं। बस के बाहर पुरानापन दीखता है पर कलात्मकता के साथ। सड़कें, चौराहें अपने रंग में रंगे हुए। पता नहीं, किसने इस शहर को 25-30 साल पहले मरा हुआ घोषित किया था। हिन्दी कवि रघुवीर सहाय के शब्दों में शायद इसलिए तो नहीं कि - 'जहाँ ढेरों कलाएँ होंगी, वहां परिवर्तन नहीं होगा'।

बहरहाल, मैं आई.सी.सी.एस.आर. के गेस्ट हाउस पहुंचता हूँ। चार घंटे आराम करने के बाद 'भोजपुरी माटी' (भोजपुरी भाषा में भोजपुरी संस्कृति को अभिव्यक्त करने वाली मासिक पत्रिका) के दफ्तर पहुंचता हूँ। दफ्तर सेंट्रल कलकत्ता में है। पूरा इलाका ही दफ्तराना है। सरकारी पाबंदी के बावजूद और रविवार को भी इक्का-दुक्का हाथ रिक्शा वाले दीख ही गये। रिक्शों के बारे में सुना बहुत था। ज्यादा

अज़ीब नहीं लगा। गोरखपुर जिले के एक हाथ रिक्शा चालक से चलते-चलते बात करता हूँ। जब पता चलता है कि वह दो-सवा दो सौ रूपये रोज़ कमा लेता है। पर इतवार को छुट्टी होने के कारण सौ रूपये भी पूरा नहीं कर पाता है। सुनकर थोड़ा अच्छा लगता है।

कलकत्ता खासतौर पर, सेंट्रल कलकत्ता कौवों और कबूतरों का इलाका है। बिल्डिगें पुरानी हैं। भोजपुरी माटी का दफ्तर 24 सी, रवीन्द्र सरणि पर तो निडर कौवों का साम्राज्य है। पत्रिका के प्रबंध संपादक श्री सभाजीत मिश्र छुट्टी के दिन भी मेरे आगमन की सूचना पाकर मेरे आने से पूर्व आ चुके हैं। 'कौवे बहुत खतरनाक हैं', कहने पर हिदायत देते हैं 'देखिएगा, छेड-छाड़ मत कीजिएगा'। क्रमशः बातचीत होती रहीं। आत्मीय स्वभाव का वह आदमी मेरे शोध से संबंधित हर यथासंभव मदद के लिए तैयार दिखा। एक लंबा-सा इंटरव्यू देने के बाद उन्होंने हिदायत दी कि बगल में ही धरमतल्ला मैदान है। वहां की गतिविधियों से मेरे शोध विषय के लिए कुछ जीवंत दृश्यात्मक सामग्रियाँ मिल सकती हैं।

शाम चार बजे के आसपास धरमतल्ला मैदान पहुंचता हूँ। एसप्लेनेड मेट्रो स्टेशन के बाहर निकलते ही मैदान में स्थित ऑक्टरलोनी मॉनुमेंट खड़ा दीखता है, सोचता हूँ इसी को हिन्दुस्तानी लोग 'मौनीमठ' कहते हैं। वैसे तो मैदान कई भागों में बंटा हुआ है पर एक एसप्लेनेड के सामने वाले भाग में बहुत बड़ा मेला लगा हुआ देखता हूँ। मन में ख्याल आता है - वीडियों कैमरा होता तो कितना अच्छा होता। अंदर घुसते ही एक तरफ एक बंदर और एक बकरा लिए मदारी वाला तमाशा दिखा रहा है- सौ लोग से कम नहीं हैं वहां, दूसरी तरफ जड़ी बूटी वाला सैकड़ों जड़ी-बूटियों का चूर्ण चादर पर बिछाकर बोल-बोलकर बेच रहा है और पचासों लोगों को भीड़ है। लोग उसकी बातों में रूचि ज्यादा ले रहे हैं। मैं वहां ठिठक जाता हूँ। अब मैं भी सुनने लगता हूँ। वह जड़ी

बूटी का नाम और काम भी बताता जा रहा है। तत्काल मेरे जेहन में इन बूटियों की वैज्ञानिक सत्यता के बारे में कोई सवाल नहीं उठता है। मैं सुनता हूँ कि किस रोज़ कौन-सी बूटी काम करती है, स्वास्थ्य के लिए जड़ी-बूटियों का सेवन क्यों जरूरी है? उनका इतिहास क्या रहा है? उसके लिए इतिहास का मतलब रामायण, महाभारत काल के अलावा और कुछ नहीं है। वह कह रहा है कि ऋषि मुनि रामायण, महाभारत काल से ही इन जड़ी बूटियों का सेवन क्यों और कैसे करते थे? मैं देख रहा हूँ कि एक तरफ वह बूटियों को सांस्कृतिक रूप दे रहा है तो दूसरी ओर, यौन रोगों के लिए लाभप्रद बताते हुए यौन संबंधों में पुरुष यौन की मर्दानगी की महिमा मंडन कर रहा है। तीसरी तरफ, वह दर्शकों की यौन मानसिकता के अनुरूप परम्परागत ढाँचे में रूचिकर बनाकर प्रस्तुत कर रहा है। सोचता हूँ, यहां खड़े लोग किस तरह के हो सकते हैं? दो-चार को आपस में भोजपुरी में बाते करते हुए सुनता हूँ। बूटीवाला भी हिन्दी में ही बोले जा रहा है। हिन्दी बेल्ट के अलावा दूसरा तो शायद यहां बंगला में ही बोलता है। यौन-बातों के समय बीच-बीच में दर्शकों से कई उत्सुकतावश किए गए सवालों को भी सुनता हूँ। बूटीवाला संभवत: जानता है कि अधिकतर खरीदने वाले दर्शक अकेले मतलब अपने परिवार के साथ नहीं रहते हैं। यौन संबंधी बातें उन्हें अपनी ओर खींचती हैं। नारी के गोपनीय अंगों की तस्वीरें दिखाते हुए कई जननांगों के पुष्ट करने में अपनी जड़ी बूटियों की ताकत के बारे में बोलता जा रहा है। शायद वह जानता है कि इन्हीं बातों को दुहराने से दर्शक उसकी बूटी खरीदने के लिए तैयार हो सकते हैं। वह बता रहा है कि उसकी बूटी का सेवन मर्द को एक पूर्ण मर्द के रूप में परिभाषित करने में पूरी तरह से सहायता करेगा। इस तरह मैं देख रहा हूँ कि यौनिकता के प्रति प्रवासी जन समुदाय में भी परम्परावादी सामंती संस्कृति से उत्पन्न मर्दवादी सोच अपनी प्रकृति के साथ मौजूद है। वह बता रहा है कि नारी सहवास के दौरान मर्द के किन स्वभावों से प्रसन्न

होती है। उसके द्वारा बताये जाने वाले प्रसन्नता प्रदान करने के सभी टूल्सों को नारी विमर्श की दृष्टि से सामंती कहा जा सकता है। परन्तु इसके लिए जिम्मेदार क्या उन्हें माना जा सकता है? यह सच है कि ऐसी सोच सामाजिक विकास के लिए मददगार सिद्ध नहीं होती है परंतु वह वास्तविकता तो है।

आगे बढ़ता हूँ। देखता हूँ मौनी मठ के ठीक बगल में फुटपाथी किताबें बिक रही हैं। किताबों पर नजर घूमती जाती है। पुस्तिका 'जालिम सिंह नाटक' पर नज़र टिक जाती है। पता चलता है यह तो वही नाटक है जो मेरे शोध विषय के रचनाकार का समकालीन रहा है। भोजपुरी की और अन्य दो-चार पुस्तकें खरीद लेता हूँ। पूछता हूँ - 'सबसे अधिक कौन-सी किताबें खूब बिकती हैं?' मालूम होता है - 'खूब तो कोई पुस्तक नहीं बिकती है। पर यौन संबंधों पर आधारित किताबें ज्यादा बिकती हैं। भोजपुरी लोकगीत, शेरो-शायरी वाली किताबें भी बिकती हैं। धार्मिक किताबों की भी बिक्री है लेकिन बहुत कम। पंद्रह सोलह साल पहले सदाबृज सारंगा, भरथरी चरित, लोरकी वाली किताबें खूब बिकती थीं। अब तो छपती भी नहीं हैं।' कुछ पोर्नो साहित्य भी है। आगे बढ जाता हूँ।

एक भिखारीनुमा कलाकार खँजड़ी पर किसी भोजपुरी प्रेमगाथा की विरह तान छेड़े हुए है। इर्दगिर्द 60-70 लोगों का बैठा हुजूम है। मैं भी बैठ जाता हूं। थोड़ी देर पता चलता है। अरे! सती बिहुला की कथा है, पति लखंदर को नागिन ने डँस लिया है, सती बिहुला बिलाप कर रही है। बिहुला के पति वियोग को वह कलाकार बड़ा भावभीनी रूप दे रहा है। लोग अठन्नी, रूपये के सिक्के उसकी चादर पर रख देते हैं। एक सिक्का मैं भी डाल देता हूँ और आगे बढ़ जाता हूँ। सोचता हूं सती बिहुला की कहानी लोगों को क्यों अपील करती है? कहीं इसलिए तो नहीं कि वह पातिव्रत्य की रक्षा के लिए अपनी कुर्बानी तक संघर्ष करती है या फिर

सचमुच उसका प्रेम एकनिष्ठ है? नारी का यह आदर्श शायद पुरुष की मर्दवादी मानसिकता को संतुष्टि प्रदान करने वाला होता है। आज धरमतल्ला के मैदान में नारी की ऐसी कहानी क्यों लोंगो को अच्छी लग रही है। कहीं ऐसा तो नहीं, ये भी अपनी पत्नियों में नारी के ऐसे त्याग को देखना चाहते हैं।

मैदान में सड़क के उस पार वाले भाग में कबीर सत्संग समिति का भजन-प्रवचन चल रहा है। प्रवचन देने वाला घुट्टी तक धोती और मिरजई पहने साँवले रंग का एक पचास वर्षीय व्यक्ति भोजपुरी मिश्रित हिन्दी में बोल रहा है। सामने दो ढाई सौ भोजपुरिया दर्शक हैं। मैदान में सबसे अधिक लोगों का हुजूम कबीर सत्संग समिति में ही दिखा। इसके ठीक दायीं ओर, आर्य समाज व विद्यासागर समिति को सुनने वालों में भी 60-70 लोगों से कम की भीड़ नहीं है। मंच से एक महिला भाषणनुमा प्रवचन कर रही है। वह भारतीय संस्कृति का पाठ पढ़ा रही है 'भारतवर्ष पर आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा है', 'आज जो शासन कर रहे हैं, उनके पास योग्यता नहीं है', 'प्रजा की रक्षा कैसे की जाती है, आज के शासन करने वालों को नहीं पता है' इत्यादि। अतीत की संस्कृति का गौरवपूर्ण गुणगान आर्य समाज करता रहा है। मालूम नहीं, इस तरह के इतिहास को वहाँ का दर्शक समाज कैसे समझ रहा होगा। आर्य समाज का काम मुख्यधारा के लोगों के लिए होता रहा है। समझ नहीं पाता हूं, यह निम्नवर्गीय समाज मुख्यधारा की विचारधारा को कैसे समझता है।

मैदान की इस सांस्कृतिक छवि में रविवार के दिन आल्हा गाने वाले और शास्त्रार्थ करते तीन-चार लोगों के योगदान को भी देख रहा हूं। सचमुच भोजपुरी संस्कृति का कलकत्ता का यह धरमतल्ला मैदान एक बहुत बड़ा सांस्कृतिक मंच है। वास्तव में यह मैदान भोजपुरियों का 'हाइडपार्क' है। जब उन्हें खोट्टा इत्यादि कहकर बोला जाता होगा, तब यहां आकर उन्हें अपनापन जरूर महसूस होता होगा।

यह संस्कृति ही सभी भोजपुरी प्रवासी श्रमिकों को अपने धर्म, संप्रदाय, जाति इत्यादि बंधनों को तोड़कर एका करती थी। भोजपुरी क्षेत्र में गोस्वामी तुलसीदास की 'रामचरित मानस' के प्रचार के कारण प्रवास में भी वीरता के प्रतीक के कारण हनुमान के प्रति भोजपुरियों का आकर्षण था। राम इनके आदर्श थे–पुत्र, भाई, पति, शासक सभी रूपों में। राम की कहानी में अपनी आशाओं का प्रतिबिम्ब देखते थे कि एक दिन वे भी अपने वनवास (प्रवास) से अपने घर लौटेंगे। धरमतल्ला मैदान में हारमोनियम, ढोलक और झाल पर गायी जाये वाली 'रामचरित मानस' की चौपाइयाँ उन्हें एक सूर में बाँधती थी। भिखारी ठाकुर के नाट्य-प्रदर्शन भी उनकी भाषा, उन्हीं के जीवन और उन्हीं के आदर्श को गढ़ रहा था।

पर सवाल उठता है कि आखिर कौन-सी स्थितियाँ थी कि जिनकी वजह से अतीत की संस्कृति एवं भिखारी ठाकुर के साहित्य से मजदूर स्वयं में एका होने, अपनापन एवं सही रास्ते की ओर अग्रसर होने के लिए मानसिक-रूप से तैयार होता था? इसकी दो स्थितियाँ रेखांकित की जा सकती हैं – एक, प्रवास में परायी संस्कृति का वर्चस्व एवं उसके द्वारा भोजपुरी प्रवासी श्रमिकों को हेय समझा जाना। कहना न होगा, बंगाली भोजपुरी प्रवासी श्रमिकों को 'क्षातूखोर' और 'खोट्टा' कहते थे। इन दोनों ही शब्दों में स्पष्ट रूप से घृणा का भाव भी आ जाता है 'अधिकांश भोजपुरी बंगाल तथा उसके मुख्य नगर कलकत्ता में दरबानी अथवा छोटा-मोटा काम करके ही जीविकोपार्जन करते हैं। इसी कारण इनके लिए 'खोट्टा' शब्द का प्रयोग किया होगा।''[36] इन्हीं व्यवहारों को लेकर 20वीं सदी के चौथे दशक में बंगाली-बिहारी प्रश्न मुख्यधारा के लोगों में बहस का मुद्दा भी बन गया था। उन दिनों पटना से प्रकाशित हिन्दी के एक साप्ताहिक अखबार (नवशक्ति) ने अपने संपादकीय में लिखा था–''बड़े दुःख की बात है कि बिहार के कुछ बंगाली सपूतों और बंगाल के कतिपय अखबारों और जननायकों ने बंगाली बिहारी प्रश्न को बहुत उग्र रूप दे रखा है तथा वे बिहार के लोकप्रिय मंत्रिमंडल पर बिना किसी आधार या औचित्य के

कीचड़ उछालने का अनवरत प्रयास कर रहे हैं।''[37] उसी माह में इसी समाचार-पत्र में एक और लेख छपा, जिसमें बंगाल में भोजपुरियों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार का पता चलता है। ''बंगाल की पुलिस या कल-कारखानों में हजारों हिन्दी-भाषी भरे हुए हैं। इसमें बंगालियों की उदारता का लेशमात्र भी हाथ नहीं है। असल कारण है कि इस काम के लिए बंगाल में उम्मीदवार ही नहीं मिलते बंगाल के हिन्दुओं में प्रांतीयता की विषैली गैस वर्षों से इस तरह भर दी गई है कि वहाँ बिना किसी कानून के बाहर वालों का प्रवेश रोका जा सकता है। कानून का सहारा लेना तो एक नाटक के समान है। उदाहरण के लिए बंगाल में कोई ऐसा कानून नहीं है, जिसमें बाहर वालों को व्यापार-वाणिज्य करने से रोका जाए। फिर भी जहाँ कहीं बंगालियों की आबादी है और यदि वहाँ कपड़े या मोदी की दुकान किसी बाहर वाले की है तो उस मुहल्ले के बंगाली आपस में चंदा इकट्ठा करके साइनबोर्ड पर लिख देते हैं–''बंगालीर दुकान'। ....बंगाल में बिहारियों का वही स्थान है, जो त्रिनिदाद, मेडागास्कर और मॉरीशश में प्रवासी भारतीयों का। वे तो उसी दिन से बंगाल में अपने को बाहर का समझते हैं; जिस दिन बंगाल के शब्दकोष में उनका नाम 'खोट्टा' दर्ज किया गया।''[38] यही कारण था कि बंगाली संस्कृति में भी भोजपुरिया श्रमिकों की उपस्थिति दयनीय रूप में थी। कथाकार राजेन्द्र यादव का यह कथन उल्लेखनीय है–''हाथ-पैर के काम के प्रति सामंती घृणा और पैसा-जीवी साहूकार के चंगुल में फँसा वह (बंगाली) अक्सर ही अपने साहित्य, नाटक या फिल्मों में बिहारी-उत्तर प्रदेशी मजदूर को दरबान, रिक्शाचालक या घरेलू नौकर बनाकर या मारवाड़ी को खून चूसने वाले सूदखोर के गँवार चीज की हास्यास्पदता देकर ही संतोष करता है। मगर ज़िंदगी में इन दोनों के बिना काम नहीं चलता है।''[39] इन स्थितियों में भोजपुरी प्रवासी श्रमिकों को उनकी अतीत की संस्कृति एवं भिखारी ठाकुर का साहित्य यदि एक तरफ उनकी सांस्कृतिक भूखों का शमन करता तो दूसरी तरफ उन्हें परायी संस्कृति के बरअक्स अपनी संस्कृति को गौरव के रूप में खड़ा दीखता।

दूसरी स्थिति थी- औद्योगिक समाज की बुराइयाँ। कलकता एक बहुत बड़ा औद्योगिक केन्द्र था। भिखारी ठाकुर युगीन कलकत्ता के जूट मिलों/कारखानों में उत्पादन में वृद्धि के लिए बहुपारी पद्धति अपनायी गयी थी; जिससे मजदूरों को दिन में तीन या चार पारियों और फिर रात में काम करना पड़ता था। इससे मजदूर को ज्यादा श्रम करना पड़ता और दोहरे व मानसिक थकान की मुक्ति के लिए वह दारू-शराब या लाइनों/बस्तियों में रहने वाली-रंडियों या चकलाघरों की ओर रूख करता। इस समस्या पर तत्कालीन राष्ट्रवादियों ने काफी लिखा है। हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द ने भी लिखा है। उन्होंने गोदान में गोबर के बहाने लिखा है–''बड़े सबेरे से मजूर शाम दीया जले तक खटता है।.... सभी श्रमिकों की यही दशा थी, सभी ताड़ी या शराब में दैहिक थकान और मानसिक अवसाद को डुबाया करते।''[40] भिखारी के नाटकों में भी वह मजदूर इन कुप्रवृत्तियों के शिकंजे में गिरफ्त दिखाई पड़ता है। विदेसिया का 'बिदेसी' और 'कलजुग प्रेम' का 'पिया निसइल' वही रंडीबाज या शराबखोर मजदूर हैं।

विदेसिया का बिदेसी अपना दैहिक थकान एवं मानसिक अवसाद को मिटाने के लिए ही जुआखोरी का आदी हो गया है। 'बैठी के सलोनी पास, खेलत रहलन ताश''[41] जुआखोरी जैसी कुप्रवृत्ति मजदूरों में बेगारी के दिनों में अधिक रही होगी, बेगारी की संवेदना को दर्शाने वाला भोजपुरी का उन दिनों यह गीत 'बरहमसिया तालवा लटकल, हाय रे चटकल' बहुत प्रसिद्ध था। इस तरह हम देखते हैं कि कारखानों के अचानक बंद हो जाने से मजदूरों का बेगार हो जाना और खुलने पर बहुपारी पद्धति से उनके श्रम करने से दैहिक और मानसिक अवसाद और अपने घर परिवार से दूर रहने (एलियेनशेन) की स्थिति उन्हें उन कुप्रवृत्तियों की ओर ध केलती थी। भिखारी ठाकुर की तीक्ष्ण दृष्टि इस ओर बड़ी सजगता से गई थी। उसी पैनी दृष्टि का परिणाम है कि उन्होंने गाँव को भूल चुके उस प्रवासी मजदूर को विदेसिया की टेर लगाकर गाँव की याद दिलायी।

भिखारी ठाकुर का 'विदेसिया' अचानक नहीं आया वरन् वह परंपरा की देन है-अपने आप में एक संपूर्ण संस्कृति को समेटे हुए। थोड़ा विस्तार में जाने की जरूरत है। हाँलाकि भिखारी ने गाँव से पलायन किये लोगों के लिए विदेसिया शब्द का संबोधन किया है। यहाँ बद्रीनारायण तिवारी के इस कथन का उल्लेख किया जा सकता है–''विदेसिया अपने प्रेमी को प्रेमिका द्वारा दिया गया एक लोकप्रिय शैली का संबोधन है, जिसे एक नयी लोक संस्कृति की संज्ञा मिली। यह लोकसंस्कृति इसी पलायन के फलस्वरूप पैदा हुई। इस लोकसंस्कृति ने अनेक कलारूपों को जन्म दिया। जैसे नौटंकी, ड्रामा, लोकगीत, चित्रकला आदि। यह एक संपूर्ण लोकसंस्कृति है। इसका उद्‌भव और विकास प्रवासी भोजपुरियों के आर्थिक स्रोतों से हुआ है।''[42] कहना न होगा, 'विदेसिया' शब्द का भावबोध हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के वियोग वर्णनों में मिलता है। पर मूलतः इस शब्द का प्रयोग भोजपुरी लोकगीतों में ही हुआ है। कहा जाता है कि सन् 1850 के दौरान केशवदास नामक एक साधू ने कबीर की विचाधारा से प्रेरित होकर पहली बार 'विदेश' शब्द का प्रयोग किया - 'भावे नाही, मोहे भवनवाँ/ हे राम, पिया विदेश गयो ना।'[43] हाँलांकि ये पंक्तियाँ आधात्मिक संदर्भ लिये हुए हैं। लेकिन 1884 ई॰ में पं॰ बेनीमाधव राम (काशीवासी) के एक लोकगीत में पहली बार बाहर गए व्यक्ति के लिए 'विदेसिया' शब्द का प्रयोग मिलता है-

काहे मोरी सुध विसराये रे विदेसिया,

तड़पत-तड़पत दिन-रात गुजारे रे,

काहे मोसे नेहिया लगाये रे विदेसिया।"[44]

इसी समय में 'विदेसिया' लोकगीतों की रचना होने लगी। इनका आधार पूरी तरह से भौतिक था। दरअसल 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भोजपुरी क्षेत्र कलकत्ता, आसाम ही नहीं, ब्रिटिश उपनिवेशों में भी लोगों का प्रवसन हो

रहा था। यही प्रवसन विदेसिया संस्कृति के उत्पादन का आधार था। विदेसिया संस्कृति लोकगीतों के अतिरिक्त विविध कलात्मक रूपों में उभरकर आने लगी। यहीं से विदेसिया लोकनाट्य रूपों का उद्‌भव होता है। स्त्रियों का लोकनाट्य डोमकच उसी दौरान् उभकर आया था, वह भी विदेसिया लोकनाट्य शैली का ही रूप था।

भिखारी ठाकुर को 'विदेसिया' और उनके अन्य सभी नाटकों के विदेसिया नाट्यशैली की कड़ी में जुड़ने से पूर्व, विदेसिया संस्कृति की एक परंपरा तैयार हो चुकी थी। गीतों के संदर्भ में भिखारी से पूर्व रघुवीर नारायण का राष्ट्रीय गीत 'बटोहिया' (1912 ई॰ में दक्षिण अफ्रीका, मौरीशॅश और ट्रिनीडाड तक के प्रवासी भारतवासियों में लोकप्रिय हो चुका था) की रचना के बाद इस धुन और टेक पर 'फ़िरंगिया,' 'सांवरिया', 'विदेसिया', 'बनिजिया', 'सिपहिया', 'जलिमवा ', 'वकीलवा' इत्यादि जैसे गीतों की सर्जना धड़ाधड़ हुई। वास्तव में इन धुनों का स्वर पीड़ा का स्वर है। विदेसिया संस्कृति में पीड़ा का स्वर इसलिए है कि प्रवासियों के जीवन में शोषण, दुख, विछड़न की पीड़ा अधिक रही है। कहना न होगा, बंगाल के गीत संगीत का स्वर भी रेघाने वाला है। वहीं दूसरी ओर 'कविगान' की पद्धति बंगाल में प्रसिद्ध थी। इस पद्धति से प्रेरित होकर ही भिखारी ठाकुर ने कवित्त पद्धति, जो नाट्य-रचनाओं में उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में मौजूद है, का प्रयोग किया है। इस कला-पद्धति ने उनके संगीत में गतिशील संवादों को संजीवनी प्रदान किया। इस कवित्त पद्धति को उन्होंने अपने लगभग सभी नाट्य रचनाओं में प्रयोग किया। बंगाल में 'कविगान' पद्धति वहाँ की 'यात्रा' नाट्य शैली बहुतायत मात्रा में प्रयुक्त होता था। कहना न होगा, भिखारी ठाकुर बंगाल की यात्रा नाट्य शैली से बेहद प्रभावित थे।

गौरतलब यह है कि पुरुष के पलायन के पश्चात् अकेली पत्नी के लिए गाँव ही परदेश बन गया। इस संदर्भ में यह बताने की जरूरत नहीं

है कि पुरुष प्रधान समाज में नयी नवेली पत्नी- जो पर्दा प्रथा के अन्तर्गत रहती है, जो ससुराल में किसी को जानती नहीं है इत्यादि-के लिए गाँव कैसे परदेश का अहसास करायेगा। इस संवेदना को लेकर लिखे गए भोजपुरी गीतों की भरमार है। भिखारी ठाकुर के विदेसिया के सांस्कृतिक स्रोत की ओर संकेत करते हुए उन पर सर्वप्रथम शोध प्रबंध लिखने वाले डॉ॰ तैयब हुसैन पीड़ित (1980) ने लिखा है- बहुत पहले से लोकगीतों के स्वांग करने वालों में 'गुदरराय' का नाम लिया जाता है। सहनी पट्टी (बक्सर) निवासी श्री रामसकल पाठक द्विजराम की 'सुंदरी विलाप' ऐसी ही गीत रचना सन् 1906 ई॰ में प्रकाशित हुई बतायी जाती है और इससे भी पहले 1857 ई॰ के ग़दर से प्रभावित होकर दिल्ली से भोजपुरी क्षेत्र (हथुआ महाराज के राज मीरगंज) की तरफ भागकर नाचने गाने वाली एक विस्थापित परिवार में सुंदरी बाई ऐसे गीत और कौतुक के लिए लोकप्रिय हो चुकी थी।"[45] सुन्दरी बाई के साथ दुनिया बाई का भी जिक्र किया जाता है। उन्हीं दिनों जिला गाजीपुर से बनारस में प्रवासित बिरहा गायक बिहारी लाल यादव की चर्चा की जाती है जो बनारस में मंदिर उत्सवों के अवसर पर गाते थे। बिहारी लाल रामायण के प्रसंगों में प्रवसन की पीड़ा को डालकर अपनी गायकी प्रस्तुत करते थे। इस सम्बन्ध में चंद्रशेखर प्रसाद ने अपने शोध-अध्ययन में लिखा है कि इस तरह बिरहा का आधुनिक रूप 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अधीनस्थ वर्ग द्वारा सांस्कृतिक रचना के रूप में उभरा। फिर भी या आभिजात्य संस्कृति द्वारा प्रशंसित हुआ। आगे चलकर, बिहारी लाल यादव की सफलता के बाद बिरहा अलग-अलग रूपों में विभक्त हो गया।"[46] संस्कृति के स्तर पर बिहारी ही नहीं बल्कि भिखारी भी मुख्यधारा की संस्कृति से प्रभावित हुए थे परंतु दोनो का ही सम्बन्ध निम्नवर्गीय समाज से जुड़ा हुआ था।"[47] बहरहाल, इस तरह की रचनाओं के बारे में भिखारी को भलीभाँति जानकारी थी, जिसका जिक्र उन्होंनें सन् 1965 ई. में कलकत्ता में उनके सम्मान समारोह के अवसर पर प्रो. रामसुहाग सिंह द्वारा एक साक्षात्कार में

किया था। बिदेसिया का नाम मैने सुना था, 'परदेशी की बात' आदि के आधार पर मैंने 'बिरहा-बहार' बनाया"[48] भिखारी ठाकुर का यह 'बिरहा बहार' यानी विदेसिया नाटक पहली बार एक एक संपूर्ण नाट्य रचना के रूप में आया। उन्होंने इस नाट्य रचना की प्रस्तुती शैली में ही अपने शेष नाट्यों को भी उसी शैली में प्रस्तुत करने के कारण एक खास नाट्य शैली 'विदेसिया नाट्यशैली' के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इसी विदेसिया नाट्य शैली के अन्तर्गत तत्कालीन नाट्य जगत की समृद्धि में तीन तरह के संस्कृतिकर्मी दिखाई पड़ते है। एक वे हैं जो केवल नाट्य रचनाकार थे, जो अभिनय नहीं करते थे। उनमें चंद्रेश्वर भारती, छांगुर त्रिपाठी जीवन, राहुल सांकृत्यायन इत्यादि की रचनाएं क्रमशः 'दमाध वध'(1940), 'सुदेशिया' (1940), 'मेहरारून के दुरदसा' (1942) इत्यादि प्रमुख हैं। दूसरे वे हैं जो रचनाकार के साथ लोकरंगकर्मी भी थे यानि बिदेसिया जैसी स्थापित नाट्य शैली के अन्य नाट्य मंडलियों में अभिनय करते थे, उनकी रचनाओं में 'हत्यारिन बहन' 'लकाठू का विवाह', 'भरथरी चरित' इत्यादि की चर्चा की जाती है परंतु इन रचनाओं के रचनाकारों के नाम ज्ञात नहीं हों सके हैं। और तीसरे वे हैं जो ज्ञात लोक-रंगकर्मी रचनाकार हैं, उनमें रामधारी सिंह, महादेव प्रसाद सिंह, हनुमान प्रसाद की क्रमशः 'जालिम सिंह नाटक', 'सूरबा नाटक', 'द्रौपदी चीरहरण' इत्यादि नाटकों को भी लोकप्रियता मिल रही थी। परंतु समग्रतः इन सभी रचनाओं को भिखारी ठाकुर की अभिनेयता एंव उनकी रचनाओं के बरअक्स अवलोकन करने पर मालूम होता है कि भिखारी के समकालीन एवं पहले श्रेणी को जोड़कर शेष श्रेणी के रचनाकारों-कलाकारों की रचनाओं में उनकी जैसी क्रांतिधर्मिता नहीं थी। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय हो सकती है कि दूसरे एवं तीसरे प्रकार के रचनाकारों की जो रचनाएं उपलब्ध हुई हैं, वे अधिकतर ठाकुर प्रसाद गुप्त बुक सेलर, कचौड़ी गली, बनारस और दुध नाथ प्रेस, सलकिया, हाबड़ा से प्रकाशित हुई हैं परंतु उन पर प्रकाशन वर्ष नहीं अंकित हुआ है। अनुमानतः वे रचनाएं सन् 1950 की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विदेसिया का एक स्रोत यदि तत्कालीन भोजपुरी समाज से श्रम के पलायन के फलस्वरूप ग्रामीण एवं प्रवासी जीवन की समस्याएं व विडम्बनाएँ हैं तो दूसरा स्रोत, दोनों जगहों की सांस्कृतिक परंपराएँ भी हैं जिनका संबंध भोजपुरी समाज एवं डेस्टीनेटिव समाज से बनता बिगड़ता है और तीसरा स्रोत, ग्रामीण और प्रवासी जीवन व संस्कृति के प्रति एक दूसरे की धारणाएँ एवं आपसी संवाद हैं जिनके घात-प्रतिघात एवं संघात से सांस्कृतिक रिश्ते बनते-बिगड़ते हैं।

III

भिखारी ठाकुर और रूचि का परिष्कार

छोडि दऽ अधरम, मिजाज क के नरम/तूं मनवाँ में करि लेहू सरम विदेसिया

आवतानी घर देखि, चलि जाई सान सेखी, डूबी मर घूठी भर पानी में विदेसिया"

(भिखारी ठाकुर रचनावली, पृ.46)

संस्कृतिकर्मी के दायित्वों में से एक दायित्व रूचि में परिष्कार करना भी रहा है। यह कार्य वह तभी कर पायेगा, जब वह साहित्य को केवल मनोरंजन का साधनमात्र नहीं मानेगा, बल्कि जीवन समस्याओं पर विचार करेगा, जन मानस की विकृतियों को उभारेगा, उनकी आलोचना करेगा एवं उनका निराकरण भी करना चाहेगा। हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचंद ने तो साहित्य उसे ही माना है।जिसमें जीवन की आलोचना होती है, जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो और साहित्य में यह गुण पूर्णरूपेण उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सच्चाईयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों।"[49] उसमें मनुष्य के अज्ञान, मोह, कुसंस्कार एवं परमुखापेक्षिता को नाश करने की शक्ति हो। यह शक्ति कलाकार को प्रकृत निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता की बदौलत मिलती है। इसी के साथ यह सवाल भी महत्वपूर्ण है कि उसका रचनाकौशल इसी में है कि वह जिस मनोवृत्ति या दृष्टिकोण से किसी बात को देखे, पाठक/दर्शक भी उसमें उससे सहमत हो जाए। अच्छी 'सीख' और उसकी प्रस्तुतीकरण के पूर्व वातावरण तैयार करने के संदर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक बहुत महत्वपूर्ण सवाल उठाया है- संसार में अच्छी बात कहने वालों की कमी नहीं है, परंतु मनुष्य के सामाजिक संगठन में ही कहीं कुछ ऐसा बड़ा दोष रह गया है, जो मनुष्य को अच्छी बात सुनने और समझने से रोक रहा है। इसलिए बड़ी समस्या यह नहीं है कि अच्छी बात कैसे कही

जाए; बल्कि यह है कि अच्छी बात को सुनने और मानने के लिए मनुष्य को कैसे तैयार किया जाए?"[50] यह बहुत ही जटिल सवाल है। लेकिन इस संबंध में कहना न होगा कि भोजपुरी का शेक्सपीयर कहे जाने वाले भिखारी ठाकुर ने अपनी नाट्य रचनाओं की प्रस्तुती के माध्यम से उक्त सवाल का जबाब न दिया हो। अर्थात् उन्होंने अपने समकालीन समाज में व्याप्त असुंदरता, अभद्रता और अमानवीय पहलुओं पर निरंतर चोट तो कर ही रहे थे, कला के असुंदर, अभद्र पहलुओं पर भी चोट कर रहे थे।

कलकत्ता में हुए भिखारी के नाट्य प्रदर्शनों के असर को स्मरण करते हुए डी.एन. राय ने टिप्पणी की है - "गीत-कविता के आलोचक कहते हैं कि कवि कलाकार का काम केवल मोहित या हिपनोटाइज (Hypnotise) करने का नहीं है बल्कि श्रोता पाठक को इंसान बनाने अर्थात् ह्यूमनोटाइज (Humanotise) करने का होता है। दर्शक लोग उनका नाच स्वांग देखकर हयूमनोटाइज कितना होता था और आदमीयत कितना सीखता था? यह तो कहना मुश्किल है कि लेकिन वे सभी को अपने रंग में ढाल लेते थे और अपने प्रति अनुरक्त बना लेते थे।"[51] डॉ. उषा वर्मा ने भिखारी ठाकुर के गीतों के संदर्भ में अध्ययन किया है। गीत पत्थर को पानी बना सकता है, इस्पाती मन को हिला सकता है। भिखारी गीत के इस लक्षण से परिचित थे।... भिखारी विदेसिया को लेकर जब लोक रंगमंच पर उतरे, तब उनका सामना कुछ आंचलिक लोकनाट्यों... के आलावा पारसी थियटेर कंपनी थी। ... (इनमें) गीत एक तरह के पैबंद थे, नाट्य से अलग अपना रंग व मिजाज लिये हुए। भिखारी पहले व्यक्ति थे, जिन्होने गीतों को इतना मनोरंजन एवं दिलकश बनाया कि लोग उसमें लटपटा गए और जीवनोपयोगी एवं समाजोपयोगी उपदेशों को खुशी- खुशी हजम कर गये। तब लोगों के लिए वे व्यास, कलिदास, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा रससान थे।"[52] कहना न होगा कि जीवनोपयोगी एवं समाजोपयोगी उपदेशों को मनोरंजन के इस कलात्मक साधन द्वारा हजम करवा लेना भिखारी के रचनाकौशल की ताकत थी।

भिखारी ठाकुर ने जिन लोगों को अपनी रचना में स्थान दिया, उन्ही की सांस्कृतिक रूपों में अपनी रचनाओं के जरिये सांस्कृतिक खुराक दिया। चूँकि वे एक ओर यदि उन लोगों की सोच व रूचियों में विकृति या भटकाव देख रहे थे तो दूसरी ओर उनकी सांस्कृतिक रूपों में भी असुंदरता, फुहड़पन को भी देख रहे थे, जो मात्र सस्ता मनोरंजन भर थी। भिखारी उन दोनों ही स्थितियों से क्षुब्ध थे। गाँव से शहर गया हुआ प्रवासी श्रमिक अपने घर बार को भूलकर प्रवास में ताश, जुआखोरी, रंडी-पतुरियों के इर्द-गिर्द मंडराता फिर रहा है और भोजपुरी पट्टी से गई 'रंड़ी -पतुरियों का नाच' और 'लवड़ों का नाच' उन श्रमिकों को पतन की गर्त में ढकलने के लिए उकसा रहा था । अर्थात् भोजपुरी प्रवासी श्रमिक उक्त परिस्थितियों का शिकार बनने को अभिशप्त होता जा रहा था यानी सामाजिक-आर्थिक स्थितियों एवं मूल्यों के उत्थान-पतन से संस्कृति का क्या रिश्ता होता है? भिखारी ठाकुर उस रिश्ते से परिचित हो चुके थे। इसलिए उन्होंने वैसी संस्कृति के उत्पादन पर जोर दिया, जो विकृतियों का शमन करे, चाहे विकृतियाँ सामाजिक हो या सांस्कृतिक । अपने 'विदेसिया' नाटक में उन्होंने उन लोगों को गांव की याद दिलायी और उन्हें अपने मूल कर्त्तव्य करने के लिए प्रेरित किया। अइलऽ कलकतवा खतवा भेजईत ताबर हो तोर।"[53] आगि लगाबहु एह नोकरी में, बजर परहु जुआसार।"[54] अर्थात आग लगे इस नौकरी में, बज्र गिरे इस जुआसार पर; इस अधर्म के रास्ते को छोड़कर तुम्हें अपने घर लौटना चाहिए। इस कर्त्तव्यमूलक प्रेरणा को भिखारी ठाकुर ने आद्यात्मिक संदर्भो से जोड़ दिया है और रचना को भक्तिमय वातावरण में रंग दिया है। भिखारी ठाकुर ग्रंथावली/ रचनावली के संपादकों में से एक नागेन्द्र प्रसाद सिंह ने लिखा हैं। भिखारी ठाकुर मानते थे कि धर्म को दरकिनार करके विकास करना अभी संभव नहीं है और समाज के विकास के लिए धर्म छोड़कर कुछ नहीं हो सकता।"[55] धर्म का सारतत्व अद्यात्म होता है। अध्यात्म की भूमिका प्रवासी श्रमिक समुदाय के लिए मानसिक संवल देने के साथ

सामाजिक विकास में भी होती है। भिखारी अपने लोकप्रिय नाटक 'विदेसिया' के सूत्रधारीय वक्तव्य में बोला करते थे- एह तमाशा में चार आदमी के पाट बा- बिदेसी एक, प्यारी सुंदरी दो, बटोही तीन, रखेलिन चार। अथवा बिदेसी ब्रह्म, बटोही धरम, प्यारी सुंदरी जीव आ रखेलिन माया। ब्रह्म जीव दुनो जाना एही देह में बाड़न बाकी भेंट ना होखे। कारन? माया। एकरा के काटेवाला बटोही धरम। आत्मा से परमात्मा काहे कुरूख हो गइलन? देना के झंझट के चाहे विरोध का झंझट से। जइसे स्त्री के पति छोड़ के परदेस चल जालन, झूठ-झंझट से, आत्मा परमात्मा से कुरोख हो जालन बीच में कारन रखेलिन स्त्री। झंझट से छोडा के मिलाप करा देवे खातिर बटोही रह उपदेश एह चारों में संवाद होखे के चाहीं। कइसन? प्यारी सुंदरी के राधिकाजी लेखा, बिदेसी के श्रीकृष्णचंद्रजी लेखा, रखेलिन के कूबरी लेखा बटोही के ऊधोजी लेखा।"[56] यह वार्तिक यदि एक ओर दर्शकों में गंभीरता से नाट्य रचना देखने की समझ पैदा करता है तो दूसरी ओर 'विदेसिया' की कहानी उन्हें अपनी लगती है। अपने जीवन की संस्कृति अभिव्यक्ति जितनी अपील करती है, उतनी दूसरों के जीवन की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति नहीं। एक तरह उनके नाटकों में वे लोग अपने जीवन के सुख दुख का साक्षात् करते थे। रचना में भिखारी समस्या के जो समाधान निकालते हैं प्रवासी मजदूर दर्शक उसमें एक ओर अपना अतीत, वर्तमान और भविष्य देखने लगता तो दूसरी ओर पतनोन्मुख भविष्य से बचने के लिए उन्हें सही मार्ग भी दीख जाता।

भिखारी ठाकुर से पूर्व या उनके समकालीन अन्य जो नाच पार्टियां थी, उनका स्तर बेहद गिरा हुआ था। वे स्वस्थ मनोरंजन नहीं दे रही थी। भिखारी ठाकुर के जीवन पर उपन्यास लिखने वाले कथाकार संजीव का कहना है- भिखारी ठाकुर से पूर्व कलकत्ता आसाम में नाच पार्टियाँ या रंडी- पतुरियों का नाच ही प्रवासी श्रमिकों के मनोरंजन का साधन था। दरअसल श्रम आधारित जो जातियाँ थी, वही सब घूम- घूम कर अपना नाच प्रदर्शन करती थी।... तब यह काम बहुत छोटा माना जाता था।"[57]

उन्होंने इस संदर्भ में अपने उपन्यास में भी अप्रत्यक्षत: संकेत किया है। देसवाली आदमी जो भी मिला, परदेसी मिला, नई-नई ब्याहता पत्नी को छोड़कर पैसा कमाने के लिए आया जैसे-जैसे जीते हुए नाच तमाशा, बतकही में मन भुलाए हुए और बतकही भी क्या. गांव-ज्वार, पत्नी, माँ-बाप, बच्चों की यादें, सीने की धुकधुकी में हर पल बजता हुआ गांव लेकिन देह का भी अपना तकाजा है। और जब बाबूलाल के लौंडे या पतुरिया आग भड़का चुकी हो, सुलगते तन-मन में जलकर बर-बुता जाने की चाहत का एक कोना- रंड़ी।"[58] संजीव का यह कथन तत्कालीन मजदूरों की जीवन चर्चा एवं तत्कालीन नाच- तमाशों की स्थिति को भी स्पष्ट कर देता है। भिखारी ठाकुर का संघर्ष स्वस्थ समाज और संस्कृति के लिए ही था। यानी वे न केवल अपनी कला में नैतिकता, मर्यादा, सुधार, परिवर्तन इत्यादि मूल्यों की स्थापना के लिए संघर्षरत थे वरन् समकालीन कला के असुंदर, अश्लील पक्षों और कलाकारों के अमर्यादित व्यवहारों को भी संस्कृत- परिष्कृत करने के लिए बीड़ा उठाये हुए थे। संस्कृति या संस्कृतिकारों में दुर्गुणों की उपस्थिति अनायास नहीं थी, बल्कि इसके लिए ठोस परिस्थितियाँ जिम्मेदार थीं। विदेसिया शैली में नाट्य रचना करने वाले नाटककार श्री ह्रषीकेश सुलभ ने लिखा है- बिहार के गांवों की सामाजिक एवं आर्थिक संरचना को सामंतो ने हमेशा अपने गिरफ्त में रखा, अत: यहाँ की सांस्कृतिक चेतना का सहज और वैज्ञानिक विकास नहीं हो सका। जीवन सापेक्ष कला रूपों की नींव जब कभी पड़ी, सामंतो. भूमिपतियों ने इन कलारूपों को अपनी ऐय्याशी का साधन बनाया और विकृत किया।"[59] पर इसका मतलब यह नहीं है कि तत्कालीन दौर में रचनाकार द्वारा स्वस्थ समाज की परिकल्पना नहीं कर सकता। भिखारी का सारा संघर्ष स्वस्थ्य समाज के लिए एवं स्वस्थ संस्कृति निर्माण को ही समर्पित था।

कहना न होगा, समाज को सही दिशा देने वाला कलाकार सर्वप्रथम दर्शक या पाठक की विकृत मानसिकता पर चोट करता है, नया सौंदर्य

बोध गढ़ता है, जिसकी माध्यम कला होती है। वह भलीभाँति परिचित होता है कि मानसिकता का संस्कृति से गहरा लगाव होता है यानी स्वस्थ मनोरंजन के जरिये ही मानसिक विकारों को दूर किया जा सकता है। भिखारी ठाकुर भोजपुरी प्रवासी श्रमिको के सांस्कृतिक इतिहास में पहले संस्कृतिकर्मी दीखते है; जिन्होंने उन श्रमिकों की विकृत मानसिक रूचि को स्वस्थ सांस्कृतिक खुराक देकर उनके सामाजिक विकास का रास्ता भी प्रशस्त करते हैं। यहां इस बात को जोड़ने पर अतिशयोक्ति नहीं होनी चहिए कि उस दौर में श्रमिक समुदाय की समस्याओं व बिडम्नाओं को मनोरंजन की विषय वस्तु बनाकर सांस्कृतिक खुराक देने वाला कोई दूसरा कलाकार नहीं था। उनकी रूचि की परिष्कृति सांस्कृतिक विकास का रास्ता बनाती है तो अप्रत्यक्षत: सामाजिक विकास का द्वार भी खोलती है।

IV
प्रवासी उढ़रियाँ

घरे चलि जइबऽ लवटि के ना अइबऽ, तूँ आस तुरि के सब नास कइलऽ बलमुआँ।

जइबऽ भवनवाँ परानवाँ तेयगि देहब, पाका जानऽ जनिहँ कहनवाँ बलमुआँ

असल के हई बेटी, इरिखे फँसल बा नेटी, कर तूरि घर जनि जइहऽ बलमुआँ।।

(भिखारी ठाकुर रचनावली, पृ.46)

प्रवास में भोजपुरिया प्रवासी मजदूरों के जीवन एवं संस्कृति से तालूकात रखने वाली महिला प्रवासी मजदूरिनों के संबंध में खोजबीन करने पर प्रवासी श्रम-संस्कृति का एक नया आयाम उभरकर आता है। भोजपुरी क्षेत्र से जिन महिलाओं का प्रवसन हुआ, उनमें अधिकतर विधवाएँ, परित्यक्ताएँ, अत्यन्त निर्धन यानि, प्रत्येक दृष्टिकोण से शोषित-दलित महिलाएँ थी। उन्होनें स्वेच्छा से कभी भी प्रवास नहीं किया। अतः अकेली महिलाओं के श्रम पलायन के संदर्भ में इतिहास की 'पुल एण्ड पुश' थ्योरी में से पुश थ्योरी ही लागू होती है। परंतु जो महिलाएँ अपने पतियों के साथ गयीं, उनके सम्बन्ध में ऐसी टिप्पणी नहीं की जा सकती है। कलकत्ता जूट मिलों में काम करने वाली महिलाओं के संदर्भ में समिता सेन के अध्ययन से हमें उन महिलाओं को समझने में सुगमता होगी। कलकता में ज्यादातर अस्थायी प्रवासी मर्द थे जो भी प्रवासी महिलाएँ थीं, वे अधिकतर या तो विधवा थी या नीची जाति की बाँझ औरतें। .. यही महिलाएँ घरेलू नौकर होती थीं, जो खाना पकाने से लेकर घर की साफ-सफाई वगैरह करती थीं। ... और बड़ी संख्या में वही महिलाएँ वेश्या बन जाती थीं।"[60] प्रवसन के समय जिन महिलाओं को पारिवारिक संरचना से छिटककर गैर-पारिवारिक माहौल में रहना पड़ा,

उन्हें तत्कालीन समाज द्वारा वेश्या का तग़मा पहना दिया गया। समिता सेन का यह कथन उल्लेखनीय है- राष्ट्रवादी, सुधारक, मजदूर संघों के कार्यकर्त्ता, पत्रकार, उपन्यासकार इत्यादि सभी उन प्रवासी महिला श्रमिकों की नैतिक मनोदशाओं को मजबूती देने में लगे हुए थे। इनकी दृष्टि में जूट मिल की औरतें बदनामी और विकृति की प्रतीक बनी हुई थी। वहाँ जैसे ही कोई औरत टेम्पोरेरी शादी करती, उसे वेश्या का नाम मिल जाता। उन बस्तियों या लाइनों को मलिन मान लिया गया था, जहाँ वेश्यावृत्ति, रखैल और टेम्पोरेरी शादियाँ होती हैं।"[61] इन्हीं जीवन-स्थितियों के ऊपर गढ़ी गई भोजपुरी की यह कहावत लोक प्रसिद्ध है- 'उढ़रि मेहरारू, टटिहर घर आ टेम्पोरोरी नोकरी के ओर छोर ना हऽ' यानी उढ़रि औरतों, झुग्गी झोपड़ीनुमा घर और टेम्पोरेरी नौकरी का कोई भरोसा नहीं होता कि वे कब छोड़ जायें।

औपनिवेशिक संस्थाओं द्वारा बटोरे गए आँकड़ों से ज्ञात होता है कि भोजपुरी क्षेत्र से प्रवास करने वाले पुरुष अपनी औरतों को बहुत ही कम मात्रा में साथ ले गये। प्रवास में भी उन्होंने अपनी पत्नियों या घर की महिलाओं से मजदूरी करवाना अपने परंपरागत संस्कार के प्रतिकूल (हेय) समझा, लेकिन औपनिवेशिक प्रवास में संस्कारों के टूटने एवं प्लांटरों के ज्यादतियों की वजह से परिवार की स्त्रियों को भी खटना पड़ा। इधर 'रॉयल कमीशन ऑन लेबर इन इण्डिया' जैसे सांस्थानिक प्रयासों से प्रवासी महिलाओं के काम करने के संदर्भ में जिस तरह की सूचनाएँ सामने आती हैं, उनका उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। अब्दुल हाकिम (दरभंगा से आया हुआ जूट मिल वर्कर) ने कहा- मेरे जिले के लोग अपना परिवार लेकर इस औद्योगिक इलाके में नहीं आते हैं। ... यदि में अपना परिवार लाता हूँ तो लोग मुझपर हँसेगे।" एक बंगाली मजदूर ने

यह महिलायें, जो अपने बच्चों समेत या अकेली पुरूषों के साथ रहती हैं, हाँलाकि वे उनकी पत्नियाँ नहीं होती हैं।

कहा- मेरी पत्नी मिल में काम नहीं करती क्योंकि बंगाल में हमारी पत्नियाँ काम नहीं करती।" हावड़ा जूट मिल में काम करने वाली दिगम्बरी नामक मजदूरिनी ने कहा- बंगाली औरतें विधवा नहीं होती, तब तक वे मिलों में काम करने के लिए नहीं आती।" इनके ठीक विपरीत छपरा (भोजपुरी बेल्ट) से आयी हुई प्रवासी महिला मजदूरिनी सुकवरिया ने अपनी बात रखी- वह अपनी पुत्रियों को काम करने के लिए इसलिए लायी है, क्योंकि अब वह बूढ़ी हो चली है।"[62] इन कथनों से इतिहासकार दीपेश चक्रवर्ती ने जो निष्कर्ष निकाला है; वह महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय हैं। उन्होंने कहा कि इन कथनों में अभिव्यक्त किया हुआ सम्मानबोध उनकी सामुदायिकता की ही विचारणा है जिसमें उनकी अपनी पहचान समुदाय की पहचान में तब्दील हो गयी है, उसी पहचान की नजरिये से वे अपना सम्मान एवं शर्म जैसी बात बताते हैं"[63] आखिर अपने समुदाय की महिलाओं के बारे में उनके द्वारा यह आदर्श क्यों गढ़ा जा रहा था? अर्थात मजदूर समुदाय अपने घर या क्षेत्र के महिलाओं द्वारा काम किये जाने को अपना अपमान क्यों समझता था? कहना न होगा, वह मजदूर समुदाय बेशक पुरुष प्रधान होने के कारण अपनी स्त्रियों को 'इज्जत' की वस्तु समझता-प्रवासी श्रमिकों की सामुदायिक सम्मान पर व्यक्तिगत सम्मानबोध भी थी और फिर मिलों में काम करने वाली महिलाओं को वेश्यावृत्ति का प्रतीक मान लिया गया था। जैसा कि तत्कालीन आधिकारिक रिपार्टों में इस सन्दर्भ में सूचनाएँ एकत्रित की गई हैं। जैसा कि स्पष्ट है जूट मिल के एक मैनेजर ने कहा था- मिल में काम करने वाली अधिकतर औरतें काम के साथ वेश्यावृत्ति भी करती हैं।"[64] ये सारी मजदूर औरतें प्रवासी थीं।

जूट मिल की महिला वर्कर जो वेश्या की पर्याय थीं, जो आगे चलकर इस रूप में परिणत हो गयी कि अधिकतर महिलाएँ पुरुषों के साथ रहने लगी, यद्यपि वे उनकी पत्नियाँ नहीं थीं या अधिकतर अकेली महिलाएँ जो उनके साथ रहती थीं और अपने बच्चों के साथ भी रहती

थीं। इनकी घरेलू स्थिति परिवार जैसी नहीं थी।"[65] परन्तु इन प्रवासी उढ़रियों का आदर्श परिवार का आदर्श अवश्य था और अपने समुदाय के संस्कार आदर्श भी। संस्कार अत्यन्त प्रतिकूल वातावरण में भी जीवित रहना जानते हैं। अपने संस्कारों के कारण ही वेश्यालयों की वेश्यायें भी अपने खान-पान में भेद-भाव रख रही थीं। वेश्यालयों में विभिन्न हिन्दू जाति की स्त्रियाँ रहती हैं। इस संबंध में एक विचित्र बात यह है कि यद्यपि ये स्त्रियाँ पेशे को अख्तियार करने के बाद हिन्दू-समाज के उत्पीडन से मुक्त हो जाती हैं; फिर भी खान-पान के मामले में हम पेशेवर होते हुए भी एक-दूसरे के प्रति जाति-भेद रखती हैं। यद्यपि उनके यहाँ सब जातियों के आदमी आते हैं। यहाँ तक कि मुसलमान भी, फिर भी खान-पान के मामले में वे अपनी कट्टरता अक्षुण्ण बनाये रखती हैं।"[66] इस कथन के आधार पर, कहना न होगा कि जब विशुद्ध वेश्यालयों में हिन्दुस्तानी समाज के प्रत्येक समुदाय का संस्कार जीवित रह सकता है तो फिर बस्तियों या लाइनों में रहने वाली, बहुत कुछ पविार की तरह रहने वाली उढ़रियों में वह संस्कार कैसे जीवित नहीं रह सकता है?

जैसे कि पहले जिक्र हो चुका है कि प्रवास में रहने वाली अधिकतर महिलाएँ पुरुषों के साथ रहती हैं और वे उनकी पत्नियाँ भी नहीं, फिर भी बच्चों समेत साथ रहती हैं। इस तरह की उढ़रियों की उपस्थिति संस्कृति के क्षेत्र में कम नहीं है। संस्कृति चाहे बंगाली हो या भोजपुरी या फिर कोई भी भाषायी साहित्य। समिता सेन ने बंगला भाषा के उपन्यासकारों की चर्चा की है। इनके यहाँ उन प्रवासी महिला मजदूरिनों की उपस्थिति उसी रूप में मौजूद है। ठीक इसी तरह भोजपुरी के शेक्सपीयर कहे जाने वाले नाटककार भिखारी ठाकुर के नाटक 'बिदेसिया' में रंडी (सलोनी) नामक चरित्र की उपस्थिति है। सलोनी भोजपुरी क्षेत्र से आये एक प्रवासी श्रमिक 'बिदेसी' के साथ बच्चों समेत रह रही है। दोनों की शादी 'टेम्पोरेरी' है। कुछ सालों से साथ रहते आ रहे हैं। पर एक दिन गाँव से उसकी पत्नी का संदेश लेकर बटोही आ जाता है। उसे घर की एक-एक

बात याद दिलाकर बटोही बिदेसी को घर जोने के लिए ब्याकुल बना देता है। परन्तु ज्यों ही सलोनी (रंडी) के बारे में पूरे विस्तार से उन्हीं आग्रहों के साथ बिदेसी को समझाने लगता है, जो बात घर से निकलते समय प्यारी सुन्दरी ने बिदेसी को समझायी थी। बटोही सलोनी को रंडी से संबोधित करता है और व्यवहार भी उसके साथ वैसा ही करता है। जो जादू जानती है। उसके चंगुल से निकलना ही बेहतर है क्योंकि 'रंडी में ना कुछ बाटे, कुत्ता जइसे हाड़ चाटे, एको घाट नाहीं तू हूँ लगबऽ बिदेसिया/ छोड़ि दऽ अधरम, मिजाज कके नाम, तूँ मनवा में कर लेहू सरम विदेसिया।"[67] वह जितनी सारी कसमें वादे खा-खाकर रो रही है, सब झूठे हैं। अब तक किसी की नहीं हुई। ना पास पड़ोस की, ना सास-ससुर की। न ससुराल की, न नैहर की। अंत में बटोही सलोनी (रंडी) को भी समझाता हैं वह कहता है- 'ये बाड़ीवाली! बात मानों, बिना विचार के काम मत करो। थोड़ा कहता हूँ, पूरा समझो। अपना चाल-चलन, रहन-सहन अच्छा बना लो। मेरे कहने से बिदेसी को जाने दो। तुम्हारा बाज़ार बना हुआ है तुम्हें बहुत 'छैल चिकनियां' (कामी पुरुष) मिल जाएंगे।"[68] पर वह नहीं मानती हैं क्योंकि वह जिन परिस्थितियों से होकर गुजरती आयी है- समाज का क्रूर चेहरा देखती आयी है। पति का अभाव उसे कहाँ से कहाँ ले आया इतना झेलने के बाद अब जब पतिनुमा एक आश्रय मिला है वह भी उससे छीना जा रहा है। ऐसे में वह बटोही पर हाथ छोड़ देती है।

इस संदर्भ में फीजी में 21 वर्षों तक प्रवासी रह चुके और उन प्रवासियों के हित के लिए संघर्ष कर चुके पं॰ तोताराम सनाढ्य के लिए प्रवासी महिलाओं को धोखा देकर घर लौट जाने वाले प्रवासी श्रमिकों का चरित्र भी एक मुद्दा था। उन्होंने कहा था कि फिजी से वापस लौटकर आने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोग देश में आकर यह विचार करते हैं कि फीजी की विवाहित स्त्री को यदि घर ले जायेंगे तो समाज के अनुसार घर में रहने पावेंगे? इस विचार से धोखा देकर फीजी की स्त्री को

छोड़कर भाग जाते हैं और अपने घर-गाँव का झूठा पता फीजी की स्त्रियों को बता देते हैं, जिससे वे स्त्रियाँ उनको ढूँढ भी नहीं सकती। फीजी से चलते वक्त आधा रूपये स्त्री के नाम लिखा देते हैं किन्तु कलकत्ते में आकर फिर स्त्री से ले लेते हैं और धोखा देकर भाग भी जाते हैं।"[69] कहना न होगा कि विदेसिया की सलोनी (रंडी) की चिंता भी वही है। इसलिए सलोनी बिदेसी को न जाने देने के लिए हर यथासंभव प्रयास करती है। वह बिदेसी से कहती है, हे बालम, घर चले जाओगे, लौटकर फिर नहीं आ पाओगे। तुमने सारी आशाएँ तोड़कर नष्ट कर दिया। गाँव जाओगे, प्राण त्याग दूँगी। मेरी बात को पक्का समझना 'असल' की बेटी हूँ, ईर्ष्यावश मेरी गर्दन फँसी हुई है; हाथ तोड़कर घर मत जाओ। ऐसे राह चलते उपहासास्पद की बात सुनकर अपना मन उदास मत करो। तुम्हारे कारण ही माँ-बाप को छोड़ दिया। अब मैं कौन उपाय करूँ। माता-पिता, भाई-भाभी, घर-बार, जाति-कूल, खान-दान, परिवार, यहाँ तक की अपना समस्त समाज छोड़कर तुम्हारे पास आयी हूँ। जरा नीति से विचार करके देखो और धैर्य धरो, प्रेम में बिलम्ब होता है। हे प्राणपति! बाँह पकड़कर मेरी इज्जत को बहाल रखो'।[70] सलोनी का यह कथन बिदेसी के प्रति उसके प्रेम की गहराई को दर्शाता है तो दूसरी ओर अपने समस्त समाज को छोड़ देने की वजह उसके स्वयं के निर्णय को भी दर्शाता है। वह स्वयं को 'उढ़री' नहीं मानती है। पर वह जानती है कि यदि उसका पति बिदेसी घर लौट जाएगा तो उसका नाम 'उढ़री' जरूर रख दिया जाएगा। इसलिए वह अपनी निहोरा में कहती है- 'उढ़री के नाँव धरवइह मति हो।' यानी मेरा नाम 'उढ़री' मत धरवाना। भिखारी ठाकुर की सलोनी (रंडी) उढ़री नाम की सामाजिक पीड़ा को बेहतर ढंग से समझती है। परिवार से उसे संरक्षण और सम्मान मिलेगा। सामाजिक कचोटों से वह मुक्त रहेगी। लेकिन जैसे ही उसका पति उसे छोड़कर गाँव भाग जाता है; उसके सारे सपने चकनाचूर हो जाते हैं। उसका नाम अब 'उढ़री' पड़ गया - आजुए से उढ़री नइया परल हो राम" परंतु सलोनी इस 'उढ़री' नाम से

मुक्ति के लिए संघर्ष करेगी। संघर्ष होगा- किसी तरह पति के गाँव का पता लगा लेना। इसी क्रम में रास्ते में पति के साथ रहने के लिए वह हर तरह से - मजबूरी में भी जीने के लिए मन ही मन स्वयं को तैयार करती जाती है। 'करब टहल महल के निसि-दिन देखब नजर भर-भर के / .. लुगरी पहिरब, सतुआ खाइब निजे मजुरी कर के।"[71] अर्थात सौतन की सेवा टहल रात-दिन करती रहेगी लेकिन अपने पिया को नजर - भर देखती रहेगी। फटी-चीटी पुराने कपड़े पहनेगी, सतू खाएगी, मेहनत मजूरी भी करेगी पर पति के साथ रहेगी। लेकिन इस 'उढ़री' जीवन को नहीं जीयेगी। इन्हीं विचारों की संकल्प लेती हुई वह अंतत: बिदेसी के गाँव पहुँचती है। सौभाग्यवश उसे वहाँ सौतन बनने का अधिकार मिल जाता है। सलोनी का पति के साथ रहने के लिए किये गए संघर्ष में 'उढ़री जीवन' के प्रति की जाने वाली सामाजिक घृणा की व्यापकता का पता चलता है। हम देखते हैं कि संस्कृति में आंतरिक प्रवसन में परिवार जड़ कितनी मजबूत है कि वह इन नारियों का भी आदर्श बना हुआ है लेकिन वहीं औपनिवेशिक देशों विशेषत: कैरेबियन देशों में परिवार की स्थापना के लिए औपनिवेशिक सरकार द्वारा विभिन्न कानूनी नियमों के जरिये बालात थोपा जा रहा था जिसके तहत प्रवासी पुरुष महिलाओं के साथ संपर्क कर उन्हें (महिलाओं को) नागरिक समाज की बजाय निजी क्षेत्र में जबरन ध केला जा रहा है।[72] हाँलाकि आसाम में कूली प्रथा के साथ शादी एवं कानूनी प्रावधानों द्वारा परिवार श्रम बल को बढ़ावा दिया जा रहा था ताकि श्रम आपूर्ति बरकरार रहे।[73]

संस्कृति के स्तर पर भिखारी ठाकुर प्रवासी उढ़रियों को पारिवारिक संरक्षण देकर, उन्हें जो सम्मान देते हैं वह भोजपुरी साहित्य क्या, तत्कालीन मुख्यधारा के समग्र भाषायी साहित्य में वह सम्मान देखने को नहीं मिलता है। प्रवासी उढ़रियों को पारिवारिक मर्यादा देना - तत्कालीन समाज एवं संस्कृति के लिए बहुत बड़ा प्रगतिशील एवं क्रांतिकारी कदम था। भिखारी ठाकुर के साहित्य के अतिरिक्त समग्र भोजपुरी संस्कृति और

साहित्य ने उन्हें सदैव हेय दृष्टि से देखा था। बड़ी ताज्जुब होती है कि भिखारी ने जिन-जिन विषयों को स्पर्श किया, वे सब के सब हाशिये पर थे। भिखारी के बाद भोजपुरी संस्कृति में प्रवासी उढ़रियों का स्वर देखने को नहीं मिलता।

V

लोक संस्कृति में 'पूरुब'

''मति जाहू पियवा पूरुबवा के देस

पूरुब देस में जटिनी जोगिनिया से

अपना ही फाँस फाँस लेती हैं पियवा

पूरुब के पानी से हो सड़ल बासी हो

वहाँ कहाँ भेंट तो कोशी रेवा हो मछरिया

सड़ल पाकल खयबो पियवा देहवा सुखैतो त

पूरुब के दिशा मुख न फेरऽ मोरा पियवा

पुरुब के देश में पनिया कमजोर संइया

मति जा पूरब के देस मोरे पियवा....."[74]

भोजपुरी लोक संस्कृति में पूरुब (भोजपुरी पट्टी से पूरब दिशा की ओर पड़ने वाले स्थानों से है; जिसमें कलकत्ता, बंगाल, आसाम, मोरंग इत्यादि) 'बिदेस' के रूप में है। कहना न होगा, लोकसंस्कृति में पूरब की तरह 'बिदेस' की अवधारणा भी कालसापेक्ष रही है। 20वीं सदी से पूर्व भोजपुरी लोकसंस्कृति में पटना भी विदेस के रूप में ही था। आवागमन एवं संचार-साधनों की वृद्धि से दूरियाँ कम पड़ने लगीं और 'विदेस' जैसी अवधारणा में मूल स्थान से प्रवास स्थान की दूरी में अंतर पड़ता गया। 'विदेस' या 'परदेस' जैसे शब्दों को लोकसंस्कृति मात्र भौगोलिक स्तर पर ही नहीं समझती है, वरन् सामाजिक व सांस्कृतिक स्तर पर भी समझती है। विदेस में अपना कोई नहीं है, न अपनी भाषा, न अपने लोग। हमेशा अजनबीपन की स्थिति रहती है। विदेस को पूरी तरह से परायी संस्कृति के अर्थ में समझती है—लोकसंस्कृति।

'पूरब' या 'पूर्बिहा' सापेक्षिक शब्द हैं। इनका प्रयोग किसी स्थान विशेष या बोली विशेष के लिए नहीं होता। हाँलाकि 'पूरब' और 'पूर्बिया' के संबंध में 'हाब्सनजॉब्सन' डिक्सनरी (पृ-724) में निम्नलिखित अर्थ लिखा गया है, जो जिला विशेष का बोध होता है। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है, इसमें 'पूरब' और 'पूर्बिहा' शब्द के विवरण यो हैं–'उतरी भारत में पूरब से अवध, बनारस तथा बिहार से तात्पर्य है। अतः पूर्बिया इन्हीं प्रांतों के निवासियों को कहते हैं।''[75]

सापेक्षता के कारण ही भोजपुरी संस्कृति द्वारा निर्मित 'पूरब' की अवधारणा में अधिकतर बंगाल यानी कलकत्ता ही उपस्थित है। इसका वस्तुगत आधार है- क्योंकि भोजपुरी लोगों का सबसे अधिक कलकत्ता में ही जाना होता था। इसलिए लोकसंस्कृति उन्हें पग-पग पर दिशा-निर्देश करती रही। चूँकि तत्कालीन दौर में यह लोकसंस्कृति गरीबी, अशिक्षा से भरी हुई थी। ऐसे में वह अपने लोगों को बाहर यानी पूरुब जाते देख बेहद भयभीत व सशंकित रहती कि कहीं उसके लोग बाहरी संस्कृति के गुलाम न बन जाए या वहीं के होकर न रह जाए। इसलिए वह अपने प्रेम की भावुकता में अन्य बाहरी संस्कृतियों को दुश्मन के रूप में प्रस्तुत करती है। तभी तो बंगाल जा रहे पति को पत्नी सतर्क करते हुए वहाँ जाने की मनाही करती है–''हाथ गोड़ फूली जइहें, पेटवा निकरि जइहें। बंगला के पानी ह खराब रे विदेसिया।''[76] बंगाल का पानी खराब है, हाथ-पाँव फूल जाता है और पेट निकल आता है। बनारस के कजली गायकी अखाड़े में प्रसिद्ध शायर शाहवान ने भी भोजपुरी की सांस्कृतिक चेतना को उसी परंपरा में जोड़ते हुए बताया है–''पूरुब मत जाओ मोरे संइया/ओही रे पूरुबवा की बाँकी बंगलिनियाँ/जादुआ डारि रखिहे मोरे रामा रे/लामी-लामी केसिया, बड़ी-बड़ी अखियाँ । पनिया भरइहें मोरे रामा रे/ 'शाह' कहे बंगाले की नारी। आवे नाहीं दिहें मोरे रामा रे।''[77] हे प्रियतम संइया पूरब मत जाओ। वहाँ की बाँकी बंगालिन जादू डालकर रख लेंगी। उनकी लंबी-लंबी केस हैं, बड़ी-बड़ी आँखें हैं। दिन भर वो पानी भरवाएँगी।

शाह कवि कहते हैं कि बंगाल की नारी कभी आने नहीं देंगी। एक अन्य गीत में भोजपुरी लोकसंस्कृति की समझ द्रष्टव्य है–''कलकत्ता तू जन जा राजा, हमार दिल कइसे लागी/ओही कलकवतवा में रंडी बसतू है, मोजरा करैं हैं दिन-राति/हमार दिल कइसे लागी/ओही कलकतवा में मलेरिया वसतू है, गजला करे हैं दिन राति/हमार दिल कइसे लागी/ओही कलकतवा में तमोलिया वसतु है, बीरवा लगे हैं दिन राति/हमार दिल कइसे लागी।''[78] भिखारी ठाकुर की विदेसिया नाटक की नायिका सुंदरी भी बंगाल के बारे में वैसी ही समझ व सूचनाएँ रखती है–''पिया मति जा हो पुरुबवा/ पुरुब देस में टोना बेसी बा, पानी बहुत कमजोर/सुनत बानी आँख पानी देत बा, सारी भइल सराबोर।''[79] पुरुब-बंगाल, कलकत्ता -जहाँ चटकल है, जहाँ जादू है, जादूगरिनें हैं, भेड़ा बना लेती हैं–दिन भर भेड़ा, रात में पुरुष। जहाँ रंडियाँ है, मोजरा करती हैं, जहाँ मलेरिया हैं, जहाँ पानी खराब है, जहाँ बीमारी है। जादूगरिनों, रंडियों से बचे तो पानी से बचकर कहाँ जाएँगे? हाथ-गोड़-फूल जाता है, पीला-सा पेट निकल आता है। शायद इसीलिए भिखारी ठाकुर की प्यारी सुंदरी का कलेजा दरिया जैसा खौलने लगता है, पति की कलकत्ता जाने की बात सुनकर–''रउवा कलकत्ता मत जाइब। जब से रउवा कलकत्ता जाये के नाम ले ले बानी, तब से हमार मन भादो के दरियाव लेखा करेजा उल्ह-माल करत बा हो दादा।''[80]

सवाल उठता है कि आखिर क्यों स्त्रियाँ (पत्नियाँ) पुरुषों (पतियों) को पुरुब-बंगाल, कलकत्ता जाने से रोकती हैं? इन स्त्रियों के पास बंगाल के बारे में इस तरह की सूचनाएँ क्या महज हवा-हवाई है? या फिर पूरुब के बारे में उनकी धारणाओं का कोई सामाजिक-सांस्कृतिक या आर्थिक आधार भी है। इस सवाल का जबाब निश्चित रूप से 'हाँ' में होगा। अगर आप ध्यान से पढ़ें तो पता चलता है कि वह पति को परदेश जाने से इसलिए रोकती है क्योंकि वहाँ 'टोना बेसी बा' और 'पानी बहुत कमजोर'....यह टोना क्या है? जादू? मंत्र? या यह टोना उस निम्नवर्गीय समाज की वह सांस्कृतिक चेतना है जिसके सहारे यह वर्ग या तो दूसरे

'वर्ग' को गुलाम बनाता है अथवा उसके समकक्ष खड़ा होने की कोशिश करता है। संघर्ष की चेतना यहीं से विकसित होती है जो इतिहास लेखन का कारण बनती है। भोजपुरी लोक की सांस्कृतिक समझ-जादू-टोना के संबंध में शायद-पुरुषों को ही इसकी वास्तविकता की जानकारी थी कि दरअसल ''उधर की औरतें इधर की औरतों की अपेक्षा अधिक आजाद होती हैं, बहुत सुंदर होती हैं, बड़े-बड़े बाल, बड़ी-बड़ी आँखें जैसे आँखों में जादू का देश भरे हों। वे इधर की पुरुषों को मोह लेती हैं। यहाँ का जो आदमी बंगाल में जाते हैं। वे अकेले रहते हैं और अकेलेपन की भूख उन्हें सताती है जिसकी वजह से वे उन पर टूट पड़ते हैं। घर बार भी भूल जाते हैं।''[81] लोक संस्कृति में नारी की सांस्कृतिक चेतना उपर्युक्त तथ्य को भला क्यों स्वीकार करेगी, जो उसी के पैरों पर कुल्हाड़ी गिरेगी, जो उसी को वश में रखेगी और फिर बस में कौन रहना चाहेगा/चाहेगी। निम्नलिखित गीत में प्रवासी पति बंगालिन के फेर में फँस गया है कि उसकी पत्नी झाँड़ू लगा रही है। वहीं एक कागा आकर काँव-काँव की रट लगाने लगता है। कागा से पत्नी अपने बालम परदेसिया का हाल पूछती है। वह कहता है जिसे तुम पिया कहती हो, वह एक सुंदर बंगालिन के प्रेम में उलझ गया है। वह बंगालिन बहुत सुंदर है। कमर से पतली है, मुँह गोल है, केश भौरे की तरह गूंजार करने वाले हैं। वह कहती है कि हे कागा। उढ़री का इतना बखान क्यों करते हो?[82]

जैसे की चर्चा की जा चुकी है कि पुरुब यानी बंगाल-कलकत्ता का पानी खारा है, खराब है, जिसकी वजह से बीमारियाँ हो जाती है। फलस्वरूप गाँव लौटना पड़ता है। इन बीमारियों के प्रति भोजपुरी की सांस्कृतिक चेतना को जान चुके हैं लेकिन उस बीमारी का इलाज भोजपुरी संस्कृति अपनी उन्हीं आदिकालीन संस्कार जनित विश्वासों के जरिये करती है। रामदरथ मिश्र के उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में सतीश नामक पात्र के कलकत्ता से बीमार होकर गाँव लौटने पर ओझा को बुलाया जाता है। ''पिता दवा लेने गए थे-गोरखपुर। फिर उस दिन कुछ गहरे बुखार में

उतर गया था। उसे एकाएक लगा कि मेरे सिरहाने कोई रो रहा है। आँखें खोलकर देखा तो पाया, पास-पड़ोस के कई आदमी खड़े हैं और इस जवार के नामी ओझा पहाड़ी पासी पचरा गा रहे हैं और बीच-बीच में जादू-टोना बंगालिनी का नाम लेकर अभुवा रहे हैं। उसे बहुत बुरा लगा। हाथ के संकेत से मना किया तो लोगों ने समझा ओझौती का कुछ असर हो रहा है। वह व्यंग्य से मुस्कराया, ओझा साहब गलगलाते हुए तड़पे-'हतु रांड बंगालिनी! लड़के को दबोच कर हँस रही है, बेशरम कहीं की। मैं अभी तेरा हँसना निकालता हूँ' और वे जोर जोर से पचरा गाने लगे। वह बुखार में भी हँस पड़ा था और देर तक हँसा था। कुछ लोग तो डरकर भाग गए। ओझा साहब का यह कहकर चलता बने कि यह आज हँस रही है, जी भरकर कल रोयेगी।'[83] मजदूर के शहर में भी रहने पर इलाज के तरीके में क्या ओझौती नहीं रहेगी? इस सवाल का उत्तर 'ना' में कहना सही नहीं होगा।

भोजपुरी संस्कृति में पूरब की उपस्थिति का एक और स्तर है—वह है—पूरब से आयी नारियों के प्रति किये गए व्यवहार को लेकर। पूरब से कमाकर लौटते वक्त बहुत लोग (मजदूरों, छोटे व्यापारियों) पत्नी के रूप में नारियों को भी लेकर आये। वे नारियाँ अपनी स्थानीय संस्कृति के साथ शहर में रहने के कारण कुछ शहरी मूल्यों को भी लेती आयीं। उन नारियों के प्रति भोजपुरी समाज ने बेहद बेरहम का व्यवहार किया। उसने सदा उसे हीन समझा। हीन-ग्रंथि से तंग आकर कुछ नारियों ने तालाब, पोखर या कुएँ में अपनी जान देकर मुक्ति की शरण ली। भोजपुरी लोकगीतों में बंगाल या मोरंग से आयी हुई ऐसी नारियों की तस्वीरें प्रमाण के बतौर पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। परिवार समाज की पहली इकाई है। उन नारियों के प्रति दोयम दर्जे का व्यवहार समाज की पहली इकाई द्वारा ही अधिकतर हुआ है। भोजपुरी के एक जँतसारी लोकगीत में पति एक और पत्नी पूरुबी बंगालिन घर में ले आया है। वह खेत पर काम करने चला गया है। इधर घर में सौतिया डाह से पहली पत्नी ने अपनी बड़ी गोतिनी

की सलाह से उस बंगालिन सौतन को खाना में जहर दे दिया। जहर से बंगालिन का माथा घूमने लगा तो धौरहर पर जाकर सो गई। पति खेत से हल चलाकर लौटा तो पूछा कि वह सभी को तो देख रहा है परन्तु उसकी पूरब देस की बंगालिन नहीं दीख रही है। जेठानी ने उत्तर दिया–'तुम्हारी नई बहू गर्व और गुमान में माती हुई है वह धौरहरे पर सो रही है।' क्रोध में आकर वह धौरहरे पर सोई अपनी बंगालिन को एक पैना मारा, दूसरा पैना मारा लेकिन वह नहीं बोली। वह बोले भी कैसे, वह तो मर चुकी थी।'[84] एक और गीत में पति मोरंग से नारी ले आया है। पुनः वह उत्तर बनिजिया चला गया है। बारह वर्ष पर घर लौटा है। माता बैठने के लिए पीढ़ा (काठ का आसन) और पीने के लिए पानी लेकर दौड़ी आयी और बहन रंगीन पंखा लेकर उसके पास गई। पुरुष ने पूछा कि वह सबको देख रहा है लेकिन उसकी सुकुमार पत्नी कहाँ है? माँ कहती है कि वह स्त्री बड़ी गर्वीली है। वह धौरहर पर सो गई है। पुरूष फिर कहता है कि वह रहती मोरंगवाली तो झांक-झूंककर अपने पिया को जरूर देखती। माता फिर कहती है कि तुम्हारी स्त्री बड़ी गर्वीली थी। वह सागर में जाकर डूब मरी। पुरुष विलख उठता है कि हे त्रिया। तुम्हारे बिना मेरी छाती व्याकुल हो रही है।'[85] ऐसी बहुत-सी घटनाओं को भोजपुरी संस्कृति ने दर्ज किया है। भोजपुरी संस्कृति ने बार-बार उसे एहसास करवाया है कि ऐसी नारियां भी अपनी ही हैं। उन्हें अपना ही समझें। इन गीतों के रचनाकार संभवतः जानते हैं कि ऐसी नारियों को स्नेह देने की जरूरत है। वे भी एक तरह से ऐसे वातावरण में प्रवसन की पीड़ा को झेल रही है। वैसे भी प्रत्येक नारी अपनी दुल्हिनियावस्था में प्रवसन की पीड़ा को जरूर झेलती है। परन्तु कई गीतों में दूसरी पत्नी को माया और पहली पत्नी को धर्म के रूप में उपस्थिति मिली है। भिखारी ने गाँव पर रहने वाली पत्नी सुंदरी को धर्म और प्रवासी पत्नी (उढ़री) को माया के रूप में चित्रित किया है।

भिखारी ठाकुर के नाटक 'विदेसिया' में भी बिदेसी की दूसरी पत्नी को धार्मिक व्याख्या के संदर्भ में माया के रूप में ही दर्शाया गया है।

लेकिन उन्होंने नाटक में दूसरी पत्नी (रखैल) सलोनी को सामाजिक मान्यता देकर अपने से पूर्व की संस्कृति से प्रगतिशील कदम उठाया है। सलोनी पहली पत्नी को बड़ी बहन के रूप में स्वीकार करती है और सुंदरी दूसरी पत्नी सलोनी को छोटी-बहन के रूप में स्वीकार करके दोनों प्रेमपूर्वक रहती हैं।'[86] भोजपुरी संस्कृति में पुरुब देस से आयी नारी को वह यह स्थान प्राप्त नहीं हुआ था। ऐसी रचना कर्म के माध्यम से भिखारी ठाकुर यह बताना चाहते थे कि समाज में बाहर से लायी गयी नारियों को समाज में पारिवारिक सम्मान देने या फिर उन्हें पारिवारिक सम्मान दिया जा रहा था जिसकी उन्होंने यथार्थ अभिव्यक्ति दी।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1 उपाध्याय, कष्णदेव- हिन्दी प्रदेश के लोक (ग्राम) गीत सहित्यभवन (प्रा.) लिमटेड, इलाहाबाद, संस्करण- 1990, पृ-100-101

2 सिन्हा, शारदा (गायिका) - केकरा से कहाँ मिले जाला, टी-सीरीज, सूपर कैसेट इंडस्ट्रीज लिमिटेड, नोएडा, उ०प्र०, 1985

3 कैसेट से (13 फरवरी, 2007 को रिकार्ड किया)

4 तिवारी विश्वनाथ प्रसाद (सं०) - दस्तावेज, अक्टूबर-दिसम्बर, 1985, पृ०-19

5 भिखारी ठाकुर रचनावली - बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना - 2005, पृ०-25, 27

6 इतिहासकार आनंद ए यंग ने (सारण जिले के संदर्भ में) अध्ययन में बताया है कि सन् 1857 के महाविद्रोह से पूर्व वहाँ के लोग बड़ी भारी संख्या में सर्विस और सेना में थे। उन दिनों इस क्षेत्र से नेपाल और बंगाल के इलाकों में व्यापार करना आम बात थी। (आर्जन डी हैन- Migration and Livelihood in Historical perspective : A case study of Bihar India – P.124)

7 यह लोकप्रिय गीत महेन्दर मिसिर कृत है। इस गीत के रचनाकाल की कोई निश्चित तिथि नहीं है। वे भिखारी ठाकुर के समकालीन थे परन्तु भिखारी ठाकुर से पूर्व वे लोकप्रिय हो चुके थे। भिखारी ठाकुर का रचनात्मक दौर 20वीं सदी के दूसरे दशक के बाद का है। अतः अनुमान कर सकते हैं कि महेन्दर मिसिर का यह गीत प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान लिखा गया होगा। क्योंकि मौजूदा दौर में भोजपुरी पट्टी से पहले की अपेक्षा पर्याप्त संख्या में लोगों को पलटन में भर्ती किया जा रहा था।

8 भिखारी ठाकुर रचनावली, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना पृ- 29

9 तिवारी, उदयनारायण-भोजपुरी भाषा और साहित्य, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ०-235, द्वि०सं०-1984.

10 यंग, आननंद ए- The Limited Raj - Agrarian Relation in colonial India, Saran District, O.U.P - 1989, P - 203.

11 वही - (गैट रिपोर्ट-1913.) पृ० 203

12 Grierson, George A. And major pitcher's Inquiry into Emigration - Procededings Nos.9-15, Revenue and Agricultural Dept. Aug - 1883- P - 1020-21.

13 वही, पृ०-1040 (उपनिवेशों में प्रवास के संदभ में)

A.	मुसलमान		
B.	हिन्दू		
1.	**ऊँची जातियाँ**		
a.	क्षत्री	-	123
b.	ब्राहमण	-	81
c.	राजपूत	-	27
	Total	-	231
2.	**मध्यम जातियाँ**		
a.	ग्वाल	-	163
b.	कोइरी	-	64
c.	कूर्मी	-	60
d.	कहार	-	50
e.	माली	-	25
f.	तेली	-	17
g.	नेपाली	-	15
h.	कायथ	-	12
i.	कलवार	-	11
j.	बनिया	-	10
k.	घट्वाल	-	10
L.	सोनार	-	5
M.	धानुक	-	4
N.	अन्य	-	6
	Total	.	454
3.	**निम्नतर जातियाँ**		
a.	चमार	-	54
b.	दुसाध	-	52
c.	भर	-	15
d.	हजाम	-	13
e.	नोनिया	-	12
f.	कैब्रता	-	11
g.	धोबी	-	10
h.	अन्य	-	110
	कुल हिन्दू =		962

14 De haan, Arjan - Migration and Livelihood in Historical perspective: A case study of Bihar, India, The Journal Development of Studies, Vol. 38, No.-5 June 2002, P. - 129.

15 मिश्र, श्रीधर-भोजपुरी लोक साहित्य : सांस्कृतिक अध्ययन, हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग 1971 पृ॰ 81

16 तिवारी, शशिशेखर -भोजपुरी लोकोक्तियाँ - बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना - 1943

17 वही, पृ॰ 65.

18 मिश्र, श्रीधर - भोजपुरी लोकसाहित्य : सांस्कृतिक अध्ययन, हिन्दुस्तानी अकादमी प्रयाग, 1971, पृ॰-182.

19 वही, पृ॰ 184.

20 वही, पृ॰ 183.

21 वही, पृ॰ 183.

22 Chakrabarty, Dipesh - Rethinking working class History - Bengal - 1890-1990 - Oup - 1989] Pp. 102.

23 मिश्र, श्रीधर - भोजपुरी लोकसाहित्य : सांस्कृतिक अध्ययन, हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग, 1971, पृ॰ 181.

24 भिखारी ठाकुर रचनावली - पृ. 312

25 वही- पृ. 313

26 वही - पृ. 278

27 Indian Labour and the land (Culcutta- 1932), p-6-7 Cited, Rethinking working class history - Bengal 1890-1940, p-107.

28 विश्वमित्र (साप्ताहिक हिन्दी अखबार) अगस्त. 1933, कलकता

29 Rethniking working class History Bengal- 1890-1940, p. 409.

30 भिखारी ठाकुर रचनावली- पृ-50

31 वही, पृ-49

32 लोककलाकार भिखारी ठाकुरः इयादन का खोह से, माधव मुद्रणालय, पटना, 2004 पृ. 12

33 वही- पृ. 12-13

34 तिवारी, उदय नारायण-भोजपुरी भाषा और साहित्य, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, संस्करण-1984, पृ-237.
35 लोककलाकार भिखारी ठाकुर: इयादन का खोह से, माधव मुद्रणालय, पटना, 2004 पृ. 7-8
36 तिवारी, उदय नारायण-भोजपुरी भाषा और साहित्य, वि.रा.प.,पटना, पृ. 235.
37 नवशक्ति (हिन्दी दैनिक अखबार) 8 अप्रैल,1938 पटना
38 वहीं, 21 मई, 1938
39 यादव, राजेन्द्र- काँटे की बात-सीरीज, अनपढ़ बनाये रखने की साजिश, राजकमल प्रकाशन, दिन- पृ-70
40 प्रेमचंद-गोदान, राहुल प्रकाशन, दिल्ली- पृ-226
41 भिखारी ठाकुर रचनावली पृ-40
42 तिवारी, बद्रीनारायण - Bideshiya : Migration, change and Folkculture, P-1 www. iias. newsletter.com
43 सिंह, दुर्गाशंकर प्रसाद-भोजपुरी के कवि और काव्य, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, 1946, पृ- 131
44 वही- 142
45 भोजपुरी सम्मेलन पत्रिका-दिसंबर- 1987, पृ- 26
46 Parsad, Chandra Shekhar- Sabaltern Articulation of Aspirations: Examining the Bidesiya Dance- Drama form of the Bhojpuri Region, P-15, M.Phil, Dissertation, 1993, J.N.U.)
47 वहीं पृ. 16
48 बिदेसिया (वार्षिक हिन्दी पत्रिका) दिसंबर- 1987, पृ-12
49 साहित्य का उद्देश्य, पृ-13 अप्रैल- 1936
50 आचार्य हजारी प्रसाद ग्रंथावली-खंड-10, पृ-24, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
51 लोक कलाकर भिखारी ठाकुर: यादन का खोह से, माधव मुद्रणालय, 2004, पटना, पृ-8
52 भोजपुरी सम्मेलन पत्रिका-1988, पृ- 34
53 भिखारी ठाकुर रचनावली पृ-24
54 वहीं- पृ- 46
55 भोजपुरी सम्मेलन पत्रिका, दिसंबर- 1987, पृ-14
56 भिखारी ठाकुर रचनावली, पृ-24
57 साक्षात्कार, 9 जनवरी 2007 (रिकॉर्डिंग)
58 संजीव- सूत्रधार, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली. 2003 पृ-42

59 तीन रंगनाटक, प्रकाशन संस्थान, नं. दि., पृ-72,2006
60 Sen, Samita- women and Labour in Late Colonial India, Jute Industry in Bengal- 1880-1940 P-25, Cup. 1999.
61 वहीं- पृ- 176
62 रॉयल कमीशन ऑफ लेबर इन इंडिया, पार्ट- 2, पृ- 80 सौजन्य: दीपेश चक्रवर्ती- ' Rethinking working Class Histroy , Bengal - 1890- 1940 i` & 56
63 वही- पृ-115
64 Curjel Report- P. 1,2, Cited : Samita Sen-Women and Labour in Late colonial in India, Jute Industry in Bengal, 1890-1940, P- 186-187.
65 वही - पृ-187
66 मिश्र, ए.पी. - विश्वमित्र, नवंबर - 1934- कलकता
67 भिखारी ठाकुर रचनावली पृ-46-47
68 वही- पृ- 48
69 सनाढ़य, तोताराम-भूतलेन की कथा, सरस्वती प्रेस, दि.1994 पृ. 143-44,
70 भिखारी ठाकुर रचनावली पृ- 47
71 वही- पृ-50
72 Mohapatra, Prabhu P. -'Restoring the Family: wife murders and the making of a sexual contract for Indian Immigrant Labour in the British Caribbean colonies, 1860-1920, P. 228-29
73 Behal, Rana p. and Mohapatra, Prabhu. P.-' Tea and money Versus humanlife: the rise and the fall of the Indeture system in the Assam tea plantation- 1840-1918.

74. छायानट (त्रैमासिक पत्रिका) उषा वर्मा अंक-95, जुलाई-सितम्बर-2000,पृ.-71
75. तिवारी, उदय नारायण- भोजपुरी भाषा और साहित्य, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, पृ- 233, 1984
76 रामदरश मिश्र रचनावली-भाग-5 (उपन्यास-जल टूटता हुआ) पृ.-256)
77 भोजपुरी के कवि और काव्य-दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, पृ. -209 सं.-2001
78. भोजपुरी ग्रामगीत-संपादक (W.H. Archer और संकटाप्रसाद), पटना लॉ प्रेस, पृ. 171-1943
79. भिखारी ठाकुर रचनावली-संपादक डॉ. वीरेन्द्र नारायण यादव और श्री नागेन्द्र प्रसाद सिंह, पृ.-31, 2004
80. वही

81. रामदरश मिश्र रचनावली-भाग-5, पृ.-259

82 Amin, Shahid (ed) - A Concise Encyclopaedia of North Peasant life (Selections from the Bhojpuri Dialect : Bhojpuri Song- G.A. Grierson) Part-III P. 380.

गीत इस प्रकार है-

ननदि के अँगना चनन घन गछिया।। हो रामा।।
तहि चढ़ि बोलेला कगवा छुलच्छन।। हो रामा ।। 1।।
देबउ रे कगवा, दूध भात दोनिया ।। हो रामा।।
खबरि न ला दे बालम परदेसिया ।। हो रामा।।2।।
पिया पी जनि करू, पिया के सोहागिन ।। हो रामा।।
तोर पिया अरूझल नारि बंगालिनि" ।। हो रामा।।3।।
तोहि पूछाँ कागा अजगुत बतिया।। हो रामा।।
कौना रूप सुंदरि बारि बंगालिनि " ।। हो रामा।। 4।।
डँडवा के पातर अरे मुख ढुर हुर ।। हो रामा।।
केसियन में भँवरवाँ गुँजारल" ।। हे रामा।। 5।।
काढ़ि रे कटरिया अपन जिया मारिताँ ।। हो रामा।।
उढ़रि के करेले अति से बखनवा" ।। हो रामा।। 6।।

83. राम दरशमिश्र रचनावली, राजकमल प्रकाशन, भाग-5 पृ.259

84. भोजपुरी लोकगीतों में करुण रस-दुर्गाप्रसाद सिंह-हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग-1944, पृ. -78

गीत इस प्रकार है-

'बोअलों में गोहुआँ उपजि गइली अंकरी,
मेडवा बइठल प्रभु झँखेली रे की।
जनि प्रभु झँखहुँ जनि प्रभु झुरवहु, अंकरी बदलि गोहुवाँ पीसब रे की।।1।।
पिसत कुटत मोरा धनि दुबरइली, कहतू त चेरिया ले अइतो रे की।।2।।
चेरिया आने गइले सवत ले अइले, सवति बिरहिया कइसे सहब रे की।।3।।
पूरिया पकइह ए गोतिनी जाउरी जे रिन्हिह, परत परत महुरा लगहइहु रे की।।4।।
एक छिपा खइली सवत, दुई छिपा खइली, अँचवे के बेरिया कपरा धुमरल रे की।।5।।
जऊँ तोरा बहुआ रे घुमरेला कपरा, सुति रहु प्रभु धररहर रे की।।6।।
हर जोति अइले कुदारी झामि अइले ओरि तर बइठे मानवा मारी रे की।।7।।
सभ के हुके देखे ले अँगना से घरवा में, पुरुबी बंगालिन नाही लउके रे की।। 8।।
तोरी बहुअवा गरभी गुमनिया, सुतल बाड़ी धवरहर रे की।।9।।
एक पैना मरले दुसर पैना मरले, पुरुबी बंगालिनि नाहीं बोली ली रे की।।10।।

85. वही. पृ.-97

'गवना करवली ए पीअवा, घर बइठली नू रे की।।1।।
मोरंग जीव रे अपने चले ले उतरी बनिजिया नू रे की।।
बारहो बरिस पर अइले ए मोरंग जीव हो ढारे जिरवा गोनिया नू रे की।।
माई लेई धावे हो रामा आरे पीठवा से पनिया नू रे की।।
मोरंग जीव हो बहिनी ले अइली नवरंग बेनिया नू रे की।।2।।
सभ के त देखी ए आमा अंगना से घरवा हो रामा।
मोरंग जीव हो पतरी तिरिअवा नाहीं ले हों की।।3।।
तोहरी तिरियवा हो ए बबुआ। गरभी गुमनिया हो राम।।
मोरंग जीव हो-सूतल बाड़ी जा घवरहर हो की।।4।।
जब आमा रहिती हो जांघ के तिरियवा नू रे की।।
मोरंग जीव हो झांकि झुकी देखती आपन, पिअवा नू रे की।।5।।
तोहरो तिरियवा ए बाबू! गरभी गुमनिया नू रे की।।
मोरंग जीव हो डूबि मरली ओही रे सगरवा नू रे भी।।
कहाँ गइलू सत के तिरिअवा बिहरे मोर छतिया नु रे की।।6।।

86. भिखारी ठाकुर रचनावली (सं. डॉ. वीरेन्द्र नारायण यादव श्री नागेन्द्र प्रसाद सिंह) पृ.-58, 2008। पूरब से आने वाली बंगालिन औरतों के प्रति किया गया व्यवहार मात्र सौतिया डाह है या फिर उसका कोई सांस्कृतिक आधार है। निश्चित रूप से पहले कहे गये तर्क यहाँ भी लागू होते हैं। यह सौतिया डाह भी भोजपुरी समाज की सांस्कृतिक चेतना का अंश है। निम्नलिखित गीत भी उसी सांस्कृतिक चेतना का अंश है–

पिया मोर गइले रामा हुगली सहरवा से लेई अइले ना।
एक बंगालिन रे सवतिया से लई अइये ना।।
तेगवा जे साले रामा धरी रे पहरवा, सवतिया साये ना।
उजे अधि-अधि रतिया, सवातिया साले ना।।
सवति के ताना मोहि लागेला जहरवा, कहरवा डाले ना।
मोरा कसकत छतिया, कहरवा डाले ना।
'रसिक बलमू' अब भइले रे निहुरवा से बोले-चालेना।
पिया मोसे मुख बतिया से बोले-चाले ना।''

(भोजपुरी के कवि और काव्य-दुर्गा शंकर प्रसाद सिंह, पृ.-175)

सम्बन्धित शब्दावलियाँ

(क) औपनिवेशिक प्रवसन के संदर्भ में–

1. गिरमिटिया–अंग्रेजी शब्द Agreement का भोजपुरीकरण, यानी अनुबंधित प्रथा/कुली-प्रथा के तहत इकरारनामा लेकर उपनिवेशों/बागानों में काम करने वाला श्रमिक, जिसकी इकरारनामे की अवधि पाँच साल की होती थी।

2. टपुहा–वही गिरमिटिया मजदूर, जो अपने गाँव लौटा तो वहाँ टपुहा नाम से पुकारा गया।

3. जहाजी भाई–गिरमिट प्रथा के तहत, उपनिवेशों को एक ही जहाज द्वारा जाने वाले मजदूरों ने एक दूसरे को जहाजी भाई कहा।

4. कालापानी–समुद्र का खारा-काला जल, जिसमें से जहाजों को ले जाया जाता था और उसमें डेढ़-दो महीना लग जाता था। इस अवधि में मिली पीड़ा की अभिव्यक्ति 'कालापानी' के रूप में हुई।

5. मिमियाई का तेल–गिरमिटिया मजदूरों द्वारा अपने श्रम की पीड़ा को मुहावरे के रूप में प्रयोग किया।

6. मारीच/मीरीच–मॉरीशश

7. डेमरइला/डामरा–डेमरारा

8. चिनीटाट–त्रिनिडाड

9. चीनीदेश–फीजी

10. कलकतिया–कलकता बंदरगाह से जाने वाले जहाज पर गये मजदूरों को दिया गया संबोधन

(ख) आंतरिक प्रवसन के संदर्भ में–

1. विदेसिया–एक सापेक्षिक शब्द हैं। राष्ट्रवादी संस्कृति में 'विदेसिया' अंग्रेजों को संबोधित है। इस अध्ययन में बिदेसिया भोजपुरी पट्टी से नयी नवेली दुल्हन को छोड़ कर उपनिवेशों में या देश में ही कमाने गये व्यक्ति के लिए उसकी पत्नी द्वारा दिया गया संबोधन। भिखारी ठाकुर का एक

लोकप्रिय नाटक का नाम और उनके सभी नाटकों की प्रस्तुति एक ही शैली का नाम भी है।

2. परदेसिया–'बिदेसिया' शब्द का समानांतर अर्थद्योतक।

3. बटोहिया–प्रवासी श्रमिकों और घर पर रहने वाली पत्नियों के राह चलते संदेश लेने-देने वाला पथिक प्रवासी मजदूर।

4. नोकरिया–नौकरी

5. कलकतिया–कलकत्ता

6. बम्बइया–बम्बई

7. असमिया–असम

8. कोइलरिया–झरिया की कोयलरी

9. माराफारी–बोकारो

10. मोरंग–नेपाल का तराई क्षेत्र

11. मोरवन के देस–मोरंग, जहाँ मोर अधिक मात्रा में पाये जाते हैं।

12. पूरुब–भोजपुरी क्षेत्र से पूरब दिशा में पड़ने वाले क्षेत्र (कलकत्ता, आसाम, मोरंग, रंगून, मालया इत्यादि)

13. पूरुबी बनिजिया–पूरब क्षेत्र में भोजपुरी लोगों का छोटा-मोटा व्यापार करने जाना

14. रेलिया–ट्रेन

15. जहजिया–जल जहाज

16. चटकलिहा–कलकत्ता के जूट मिलों (चटकल) में काम करने वाले श्रमिक से उसके गाँव द्वारा प्राप्त संबोधन

17. खोट्टा–कलकत्ता में हिन्दी प्रदेश के मजदूरों को बंगालियों द्वारा दिया गया नाम, जिसमें घृणात्मक चेतना का बोध है।

18. क्षातूखोर–कलकत्ता में भोजपुरी श्रमिकों को सत्तू (चने से निर्मित) खाने

पर बंगालियों द्वारा दिया गया नाम, इसमें सत्तू को मोटा अनाज मानकर हेय दृष्टि से देखा गया।

19. पत्तिया–चिट्ठी/पत्र।

20. पलटनिया–पलटन (सेना) में भर्ती होकर गये हुआ व्यक्ति को गाँव द्वारा प्राप्त संबोधन।

21. बैरंग–ऐसा पत्र, जिस पर डाक टिकट न लगा हो, जो बहुत ही जल्द प्राप्त हो जाता था, गंभीर परिस्थितियों में गाँव से बैरंग भेजा जाता था और प्राप्तकर्ता लेते समय डाक सेवा की कीमत चुका देता था।

22. तलबिया–मजदूर को प्राप्त मजदूरी/वेतन

23. झाकामुटिया–

24. हिन्दुस्तानी–कलकत्ता, आसाम में हिन्दी बेल्ट से गये हुए श्रमिक को बंगालियों या वहाँ के स्थानीय लोगों द्वारा दिया संबोधन।

25. सवतिनिया–बंगाल, आसाम से भोजपुरी श्रमिकों द्वारा लायी गयी दूसरी पत्नियों को उनकी घर की पहली पत्नियों द्वारा दिया गया दोयम दर्जे का संबोधन।

26. मौनीमठ–कलकत्ता में धरमतल्ला मैदान में स्थित 'ऑक्टरलोनी मॉनीमेंट' का भोजपुरी श्रमिकों द्वारा दिया भोजपुरीकरण संबोधन।

27. राँड़–एक ऐसी विधवा औरत, जो वेश्यावृत्ति करती हो।

28. उढ़री–अपने बच्चों समेत पुरुषों के साथ रहने वाली वह स्त्री, जिसकी (पुरुष) वह समाज द्वारा मान्यता प्राप्त पत्नी नहीं होती है।

वी.वी. गिरि राष्ट्रीय श्रम संस्थान
सेक्टर-24, नोएडा-201301
उत्तर प्रदेश
E-mail: vvgnli@vsnl.com
website: www.vvgnli.org ; www.indialabourarchives.org